निवेदन

1.दलित राजनीति की समस्याएँ

2.कबीर साहित्य पर विचार

3.आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक और इतिहास के सवाल

4.आलोचना और समाज

5.आलोचना और संस्कृति

मेरे उपरोक्त पाँच लेख एक साथ प्रस्तुत हैं। ये विभिन्न अवसर पर लिखे गये हैं। इनकी विषय वस्तु में अंतस्संबंध के कारण इनमें कई जगह दुहराव भी मिल सकते हैं। मैं अध्यापन के कार्य से जुड़ा हुआ नहीं हूँ और अपनी सीमाएँ जानता हूँ। इसके विवेचन और निष्कर्षों की गुणवत्ता के बारे में अध्यापन के कार्य से जुड़े अधिकृत विद्वान ही कुछ कह सकते हैं। यह समय साध्य है। मैं तो उनके कहने की सिर्फ दीर्घकालिक प्रतीक्षा ही कर सकता हूँ। फिलहाल तो मेरे पास सिर्फ इन्हें पढ़े जाने का अनुरोध है, सो मैं कर रहा हूँ।

- सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान



डॉ. आंबेदकर

दलित राजनीति की समस्याएँ



प्रफुल्ल कोलख्यान

मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है। -डॉ. आंबेदकर

1. स्थिति और संदर्भः राजनीति क्या है

i. दलित एक विशुद्ध भारतीय स्थिति है और इसीलिए 'दलित राजनीति की समस्या' अपने मूल चरित्र में बिल्कुल भारतीय यथार्थ है। दलित का अर्थ और अभिप्राय सिर्फ भारतीय संदर्भ से हासिल किये जा सकते हैं। दलित समस्याओं से मिलती-जुलती समस्याएँ अन्य समाजों में भी हो सकती है, लेकिन उन पर प्रसंगवश ही चर्चा की जा सकती है। उनके साथ दलित समस्याओं को समीकृत करना समस्या के मूल से भटकाव की आशंकाओं को सघन करता है। कहना न होगा कि यह भटकाव मूल समस्या को उलझाव में डाल देता है और उसके चरित्र को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। ऐसा कई बार शरारतन किया जाता है, तो कई बार अनजाने ही हम उस उलझन में फँस जाते हैं। कोशिश की जा सकती है कि उलझाव और भटकाव के ऐसे संदर्भों से बचा जाये। भारत बहुत बड़ा देश है, भौगोलिक रूप से ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी इतना वैविध्य है कि कई बार इसके देश नहीं 'महादेश' होने का भ्रम होता है। 'महादेश' न हो, तो भी इतना तो है कि कोई भी 'भारतीय स्थिति' अपनी सामाजिकता में एकार्थी नहीं हो सकती है और न पूरे भारत पर एक ही अर्थ में लागू हो सकती है। उत्तर और दक्षिण भारत की या फिर पूर्व और पूर्वोत्तर की 'दलित राजनीति' से हिंदी क्षेत्र की दलित राजनीति भिन्न हो सकती है। इस भिन्नता के कारण वहाँ की सामाजिक-आर्थिक संरचना, समकालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थिति आदि में निहित हैं। कहना न होगा कि 'दलित राजनीति की समस्या' का अपना क्षेत्रीय प्रसंग भी है। जाहिर है कि 'दलित राजनीति की समस्या' पर विचार करते हुए यहाँ व्यापक और सामान्य नजरिया ही अपनाना बेहतर होगा। विशिष्ट क्षेत्र की 'दलित राजनीति की समस्या' पर केंद्रित अध्ययन में विशिष्ट नजरिया अपनाया जा सकता है।

ii. राजनीति मूलत: 'सत्ता-विमर्श' है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सत्ता' की व्याप्ति होती है। यह व्याप्ति कई बार दृश्य होती है, तो कई बार अदृश्य भी रहती है। दृश्य हो या अदृश्य किंतु 'सत्ता' की उपस्थिति वहाँ होती जरूर है। तात्पर्य यह कि सत्ता राजनीति

का केंद्रीय विधान है। कहना न होगा कि राजनीतिक आंदोलन का मकसद ‘सत्ता की संरचना’ में परिवर्त्तन के माध्यम से ‘समाज की संरचना’ में परिवर्त्तन करना होता है और सामाजिक आंदोलन का मकसद ‘सामाजिक संरचना’ में परिवर्त्तन के माध्यम से ‘सत्ता की संरचना’ में परिवर्त्तन करना होता है। दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं और एक दूसरे से टकराते भी हैं। यहीं पर यह स्मरण कर लेना जरूरी है कि ‘सत्ता’ का मतलब होता है, इच्छित परिणाम पाने की क्षमता। ‘इच्छा’ क्या है, और यह भी कि इच्छा का निर्माण कैसे होता है, इस पर ध्यान देना जरूरी है। ‘इच्छा’ उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक विकल्प के चयन में अभिव्यक्त होती है। विकल्पों का चयन प्राथमिक रूप से आर्थिक और उसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौतिक आदि कारणों पर, अर्थात ‘जीवन-स्थितियों’ पर निर्भर करता है। इस प्रसंग में, यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि आर्थिक आधार को विकसित करने के भी कई विकल्प हो सकते हैं। इन विकल्पों में से किसी एक के चयन का आधार प्रमुख रूप से आर्थिक स्थिति ही मुहय्या कराती है। बच्चा स्कूल जाने के ‘काम’ के बदले स्कूल के सामने की चाय दूकान में प्याला धोने का ‘काम’ चुनता है, तो ‘विकल्प के इस चयन’ में उसकी ‘जीवन-स्थितियों’ की भूमिका को समझना मुश्किल काम नहीं है। इस चयन से भी ‘जीवन-स्थितियाँ’ बदलती है। ‘स्कूल जानेवाला बच्चा’ ‘प्याला धोनेवाले बच्चे’ से अधिक सामाजिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इन्हें परस्पर जुड़ी कड़ियों के रूप में समझा जा सकता है। ‘समझने के बाद’ प्रेक्षक के पास भी कई विकल्प होते हैं -- बच्चा के माता-पिता, को भला-बुरा कहना, दूकानदार को फटकारना, व्यवस्था को दोष देना, तत्काल कुछ व्यवस्था करना या कुल्हा मटकाकर चल देना -- इनमें से एक या अनेक विकल्प को प्रेक्षक अपनी ‘जीवन-स्थितियों’ के अनुसार चुनता है। कहना न होगा कि ‘जीवन-स्थितियों’ में ‘व्यक्तित्व के गुण’ शामिल हैं। तात्पर्य यह कि ‘जीवन-स्थितियों’ की सामाजिकता और राजनीति से ‘अर्थ’ का गहरा संबंध होता है।

iii. सत्ता का सबसे अधिक सुपरिभाषित, स्वीकृत और प्रभावी रूप ‘अर्थ’ होता है। कहना न होगा कि ‘इच्छा’ और ‘विकल्पों’ के चयन की ‘स्वतंत्रता’ का अधिकार और ‘इच्छित परिणाम’ पाने का सीधा संबंध ‘अर्थ’ से है। ‘अर्थ’ का प्रवाह ‘रोजगार’ से

होता है। बीसवीं सदी का बीज शब्द था 'स्वतंत्रता' और इक्कीसवीं सदी का बीज शब्द है 'रोजगार'। 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है -- आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है। ... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[1] 'राजनीति' का संबंध 'सत्ता' के अर्जन की 'स्वतंत्रता' से है। 'स्वतंत्रता' का संबंध 'रोजगार' और रोजगार के 'उपलब्ध विकल्पों' में से किसी विकल्प को चुनने की स्वतंत्रता ओर आधिकारिकता से है। मतलब यह कि 'राजनीति' का संबंध 'स्वतंत्रता' और 'स्वतंत्रता' का संबंध 'रोजगार' से है। राजनीति को समझने के लिए रोजगार के रूप और प्रकार पर ध्यान देना जरूरी है। रोजगार उत्पादन के बाद वस्तु के बढ़े हुए महत्त्व के कारण उसकी कीमत में हुई बढ़ोत्तरी से उत्पन्न होता है। कीमत में बढ़ोत्तरी का संबंध 'बाजार' और 'इजारेदारी' से होता है। बढ़ी हुई कीमत के कारण प्राप्त अतिरिक्त धन के वितरण में सम्यक संतुलन के अभाव से धन एक जगह जमा होने लगता है। यह धन 'पूँजी' में बदल जाता है और फिर 'अतिरिक्त धन' का सृजन करता है। जो व्यवस्था वितरण के सम्यक संतुलन में अभाव उत्पन्न करने की पद्धतियों को अपनाती है, समाज के हाथ के बदले व्यक्ति के हाथ में अतिरिक्त धन के जमाव और उसके पूँजी में अंतरण को अपना लक्ष्य बनाती है, वह व्यव्स्था 'पूँजीवादी व्यवस्था' कहलाती है।

iv. 'पूँजीवाद' का जन्म अतिरिक्त-धन के सम्यक वितरण में असंतुलन से होता है और यह असंतुलन अंततः सामाजिक विषमता में परिणत होता है। सम्यक वितरण के अभाव से उत्पन्न असंतुलन का दुष्प्रभाव पूँजीवाद की कतिपय विकृतियों में अभिव्यक्त होता है। 'सामाजिक विषमता' पूँजीवाद से पैदा होती है और पूँजीवाद को पोसती है। 'सामाजिक विषमता' का यह मुख्य कारण है। मुख्य कारण मानने से ही यह बात स्पष्ट है कि कारण अन्य भी हैं। इन 'अन्य' कारणों को भी समझना बहुत जरूरी है, खासकर

भारतीय परिप्रेक्ष्य में इन्हें समझना बहुत जरूरी है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'धन की अतिरिक्तता' के जमाव का मुख्य रूप से हिंदू धर्म के ब्राह्मणवादी गर्भ से निकले जातिवाद की सामाजिक पदानुक्रमता से और इसीलिए सामाजिक विषमता से भी गहरा रिश्ता है। कहना न होगा कि विषमताओं को प्रोत्साहन 'पूँजीवाद' से तो मिलता ही है, भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह प्रोत्साहन 'ब्रह्मणवाद से व्युत्पन्न जातिवाद' से भी मिलता है। एक बात और जिस पर हमारा ध्यान सहज ही नहीं जा पाता है -- पुराने समय का 'ब्राह्मणवाद' ही आज के समय में अपने को 'हिंदुत्व' के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि 'हिंदुत्व' धर्म नहीं धर्म पर आधारित एक राजनीतिक विचारधारा है। 'हिंदुत्व' को विषमता के पोषक होने का चरित्र धर्म के विषमताकारी चरित्र से विरासत में मिला है। ऐसी हालत में किसी भी कारण से और किसी भी आधार पर गठित 'जातिवाद' की प्रेरणाएँ 'हिंदुत्व' के किसी भी रूप से निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ सकती है। बल्कि कहना यह चाहिए कि 'जातिवाद' की राजनीतिक सिद्धांतिकी अंतत: 'हिंदुत्व' की ही सेवा करती है। 'पूँजीवाद' अपने मूल चरित्र में ही सामाजिक-विषमताओं को बढ़ावा देनेवाला होता है। स्वभावतः कोई भी सिद्धांतिकी जो सामाजिक-विषमताओं को किसी भी रूप में बढ़ावा देती है 'पूँजीवाद' की मित्र सिद्धांतिकी ही होती है। स्वाभाविक ही है कि 'पूँजीवाद की सिद्धांतिकी' अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'धर्म' की और राष्ट्रीय स्तर पर 'हिंदुत्व' की सिद्धांतिकी से अपना गठबंधन करती है। इस गठबंधन को 'धर्म' और 'बाजार' के नव-संश्रय में पढ़ा जा सकता है।

v. 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' की आकांक्षा रखनेवाली किसी भी सिद्धांतिकी को भारतीय परिप्रेक्ष्य की विशिष्टता के कारण 'पूँजीवाद और हिंदुत्व' से एक साथ लड़ना पड़ेगा। अलग-अलग नहीं। डॉ आंबेदकर के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, 'मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं

होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है।'[2] 'दलित राजनीति' की एक प्रमुख समस्या यह भी है कि इस 'एक साथ' लड़ने की जरूरत को समझते हुए भी यह इसे अपने राजनीतिक बरताव में अपना नहीं पाती है।

vi. 'दलित राजीनीति' की समस्याओं को समझने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसे खोलें तो कुछ बातें समझ में आती हैं (I) देश के दो दुश्मन हैं -- ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद। ये दोनों अंतर्गुंफित[3] हैं। ये ऊपर से दो दिखते हैं, लेकिन असल में एक ही हैं, इसलिए इन से एक साथ निपटना होगा। (II) 'ब्राह्मणवाद' के जनक ब्राह्मण हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक सीमित नहीं है, यह सभी जातियों में घुसा हुआ है -- दलितों में भी यह घुसा हुआ हो सकता है। इस मुहिम का लक्ष्य सिर्फ 'ब्राह्मण' ही नहीं हो सकते हैं। (III) इनसे कामगार ही निपट सकता है। संसदीय राजनीति, बुद्धिजीवी आदि इसमें सहायक तो हो सकते हैं, लेकिन निपटना तो कामगारों को ही होगा। इसके लिए कामगारों को संगठित होना होगा। कामगारों को ऐसे संगठनों का लक्ष्य सिर्फ रोजी-रोटी से सीधे जुड़े सवालों को ही नहीं 'ब्राह्मणवाद' से निपटने से जुड़े सवाल को भी अपने एजेंडा में स्पष्ट तौर पर शामिल करना होगा। (IV) 'ब्राह्मणवाद' से लड़ने का मतलब, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से लड़ना है, अर्थात स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की बहाली के लिए संघर्ष करना है।

vii. सर्वविदित ही है कि 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की सामाजिक आकांक्षा 1789-1799 की 'फ्राँसिसी क्रांति' के दौरान एक विशेष राजनीतिक संदर्भ में अपनी पूरी ताकत के साथ उभर कर सामने आई थी। बाद के दिनों में ये आकांक्षाएँ उस राजनीतिक संदर्भ से विच्छिन्न हो गयी तो इसका मतलब यह नहीं कि ये आकांक्षाएँ पूरी या बेमानी हो गई। इसका सीधा-सा मतलब यह है कि इन आकांक्षाओं को उभारनेवाली राजनीतिक शक्ति को उसमें अपने लिए कोई लाभजनक स्थिति नहीं दिख रही थी। यह अवसर तो 'फ्राँसिसी क्रांति' के 'पहले और बाद' के मूल्यांकन का नहीं है, लेकिन यह देखने का अवसर जरूर है कि 'दलित राजनीति' के संदर्भ में

'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' का कुछ अपना अलग और विशिष्ट अर्थ भी है। 'दलित राजनीति' के संदर्भ में इस विशिष्टता को ठीक से स्थिर नहीं कर पाना 'दलित राजनीति' की कतिपय समस्याओं के मूल में हो सकता है और है। डॉ. आंबेदकर के मंतव्य का अर्थ समझने के लिए 'दलित राजनीति' के ऐतिहासिक संदर्भ को याद कर लेना जरूरी है।

2. दलित राजनीति का ऐतिहासिक संदर्भ

i. 'दलित राजनीति' की समस्याओं को समझने के लिए इसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझना जरूरी है। ऐतिहासिक संदर्भ में यह देखने की भी खास जरूरत है कि 'दलित राजनीति' की समस्याओं का कितना संबंध इतिहास से है और कितना संबंध 'मुख्यधारा की राजनीति' की अंतर्बाधाओं से है। ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाये तो, आधुनिक अर्थ में भारतीय राजनीति की शुरूआत अंग्रेजों के औपनिवेशिक वर्चस्व से बाहर निकलने की छटपटाहट के साथ शुरू हुई और उसी छटपटाहट की की मति-गति से जुड़ी रही। 'अंग्रेजों के औपनिवेशिक वर्चस्व' से कौन-सा दुख जनमा था, यह एक बार ध्यान में लाने की जरूरत है। वह दुख था धन के विदेश चले जाने का दुख--- 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी'[4]। किसका धन? इस धन में दलितों की साझीदारी कितनी थी? अगर 'बहुत' नहीं थी तो 'धन के विदेश चले जाने' का 'बहुत' दुख दलितों को क्यों होना चाहिए था? आजादी के आंदोलन के दौरान 'आजादी' का क्या अर्थ बन रहा था, इसे ठीक से नहीं समझा जाये तो 'दलित राजनीति' का आजादी के आंदोलन से कैसा संबंध हो सकता था, इसका अनुमान भी सहज ही नहीं लगाया जा सकता है।

ii. 'दलित राजनीति की समस्याओं' को समझने के लिए आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से 'दलित राजनीति' के द्वंद्वात्मक रिश्ते की ऐतिहासिकता को कोरी भावुकता से ऊपर उठकर समझना जरूरी है। आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से

'दलित राजनीति' के द्वंद्वात्मक रिश्ते में यह बात निहित थी कि 'दलित राजनीति' का लक्ष्य अंग्रेजों के बाह्य औपनिवेशिक शक्ति से मुक्ति के साथ ही, वर्णव्यवस्था के वर्चस्व के साथ आंतरिक उपनिवेश को मजबूत करनेवाली शक्तियों के द्वारा निर्मित आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा के भावुकतापूर्ण राष्ट्रवाद के प्रपंच से, अर्थात 'आंतरिक उपनिवेश' से भी मुक्त होना था। आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा सिर्फ बाहरी औपनिवेशिकता से लड़ रही थी, जबकि 'दलित राजनीति' के सामने 'आंतरिक औपनिवेशिकता' का सवाल भी मुखर था। तात्पर्य यह कि 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' की तुलना में 'दलित राजनीति' का संघर्ष दोहरा और अधिक पूर्ण होने के कारण कठिन भी अधिक था। जाहिर है कि 'दलित राजनीति' का टकराव आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से भी होता था। मुख्यधारा की राजनीति दलितों के दुख के प्रति इतनी संवेदनशील नहीं थी कि वह इस टकराव की तह में जाकर इसके वास्तविक कारणों को समझती और इसके औचित्य का प्रतिपादन करती। मुख्यधारा की राजनीति उलटे 'दलित राजनीति' पर मन से आजादी के आंदोलन की भागीदार नहीं बनने या रोड़ा अटकाने जैसे मिथ्या आरोपी मनोभाव से ग्रस्त हो जाती थी।

iii. आजादी के आंदोलन की 'मुख्यधारा' के न सिर्फ नैसर्गिक नेता थे गाँधी जी, बल्कि वे उसके प्रतीक पुरुष भी थे। 'दलित राजनीति' और 'मुख्यधारा' के अंतस्संबंध को जानने के लिए गाँधीजी के दृष्टिकोण को जानना भी आवश्यक है। गाँधीजी न सिर्फ महात्मा के रूप में जाने जाते हैं, बल्कि वे महात्मा थे भी। उनकी यह बद्धमूल धारणा थी कि 'अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जायेगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जायेगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जायेगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।'[5] गाँधीजी की इस धारणा को थोड़ा खोलें तो कुछ बातें साफ होती हैं: (क) सच्ची 'वर्ण व्यवस्था' अच्छी है। (ख) इसके अंतर्गत समाज चार भागों में (श्रम के आधार पर) विभाजित होता है। (ग) सच्ची 'वर्ण व्यवस्था' के अंर्तगत ये चारो विभाग

एक दूसरे से छोटे या बड़े नहीं होते, एक दूसरे के पूरक होते हैं। (घ) इन चारों विभागों के सदस्यों की सामाजिक समता का सवाल गाँधीजी की नजर से ओझल रहता है। (ङ) इन चारो विभागों के सदस्यों की आर्थिक समता का सवाल भी गाँधीजी की नजर से ओझल रहता है। (च) गाँधीजी 'वर्णव्यवस्था' को 'हिंदू धर्म' का आंतरिक मामला मानते थे और इसकी 'विकृतियों' को 'सामाजिक-धार्मिक मामला' मानते हुए इन विकृतियों को 'धर्म में निहित करुणा' के बल पर सामाजिक आंदोलन से दूर कर 'सच्ची वर्णव्यवस्था' को कायम करना चाहते थे। (छ) गाँधीजी 'दलित समस्या' को 'राजनीति' से काटते थे तथा 'धर्म' और 'समाज' से जोड़ते थे। (ज) 'दलित समस्या' को 'राजनीति' से काटने तथा 'धर्म' और 'समाज' से ज़ोड़ने के लिए गाँधीजी के द्वारा की गई 'राजनीतिक कार्रवाइयों' का गाँधीजी के 'महात्मापन' से गहरा संबंध है। (झ) गाँधीजी की इन मान्यताओं को 'मुख्यधारा की राजनीति' से अनुमोदन और समर्थन प्राप्त था।

iv. इसका नतीजा यह था कि 'मुख्यधारा की राजनीति' के अंतर्मन में यह बात बनी हुई थी कि 'दलित समस्या' का 'राजनीतिक जनतांत्रिकता' से कोई सरोकार नहीं है। अत: राजनीतिक नेताओं को इससे दूर ही रहना चाहिए; इसका सरोकार 'धर्म' से है अत: धार्मिक नेता, पंडा, पुजारी, संत, महात्मा को ही 'दलित समस्या' पर कुछ सोचना और करना चाहिए। 'दलित राजनीति' इन बातों से घोर असहमत थी। 'दलित राजनीति' के अनुसार (क) 'वर्ण व्यवस्था' अपने किसी भी रूप में अच्छी नहीं हो सकती है। (ख) 'वर्ण व्यवस्था' में 'श्रम' का नहीं, जन्म के आधार पर 'श्रमिकों' का विभाजन होता है। (ग) 'वर्ण व्यवस्था' के विभाग अनिवार्यत: एक दूसरे से बड़े या छोटे होते हैं, एक दूसरे के पूरक नहीं 'स्वामी' या 'सेवक' होते हैं। (घ) 'दलित राजनीति' में सामाजिक समता मूल और मानवाधिकार का सवाल बनकर उभरता है। (ङ) 'दलित राजनीति' मूल प्रश्न में निहित सामाजिक उलझावों में पड़कर आर्थिक समता का सवाल पूरी तत्परता से नहीं उठा पाता है। हालाँकि मुख्यधारा की राजनीति भी आर्थिक समता का सवाल नहीं उठाती है। (च) 'दलित राजनीति' किसी

भी रूप में 'वर्णव्यवस्था' को 'हिंदू धर्म' का आंतरिक मामला नहीं मानती थी। 'धर्म में निहित करुणा' पर उसे कत्तई विश्वास नहीं था, वह 'राजनीति में निहित अधिकार चेतना' को महत्त्व प्रदान करती थी। 'वर्णव्यवस्था' के सभी रूपों को समूल उखाड़ फेकना चाहती थी। (छ) 'दलित राजनीति' अपने 'राजनीतिक एजेंडे' में 'दलित समस्या' को पूरे आग्रह के साथ समेटती थी, 'धर्म' और 'समाज' से जोड़कर देखने का दौर सामाजिक आंदोलन के प्रथम चरण में पूरा हो चुका था। (ज) 'दलित समस्या' को 'राजनीति' से काटने तथा 'धर्म' और 'समाज' से जोड़ने के लिए गाँधीजी ने जो कार्रवाइयाँ की उन कार्रवाइयों को 'दलित राजनीति' शंका की नजर से देखती थी। इसलिए, गाँधीजी का 'महात्मपन' 'दलित राजनीति' को ढोंग सरीखा लगता था। (झ) 'दलित राजनीति' की इन मान्यताओं को 'मुख्यधारा की राजनीति' से अनुमोदन और समर्थन प्राप्त नहीं होता था। (ञ) 'मुख्यधारा की राजनीति' से पूरी तरह असहमत होते हुए 'दलित राजनीति' 'दलित समस्या' को 'राजनीतिक जनतांत्रिकता' के सरोकारों से जोड़ती थी और राष्ट्रीय स्तर के अपने राजनीतिक नेतृत्व के विकास की गहरी आकांक्षा रखती थी। 'दलित राजनीति' धार्मिक नेता, पंडा, पुजारी, संत, महात्मा को 'दलित समस्या' का कारण मानती थी और स्वभावत: इसके 'निदान' के लिए उन पर जरा भी भरोसा नहीं करती थी।

v. इतिहास बताता है कि 'गाँधीजी ने जान-बूझकर हरिजन आंदोलन को सामाजिक सुधार (हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुओं, सड़कों, ओर विशेष रूप से मंदिरों को खुलवाना, साथ में मानवतावादी कार्य) तक सीमित रखा था (यद्यपि अनेक हरिजन खेतिहर मजदूर थे), साथ ही उन्होंने समग्र रूप से जाति-व्यवस्था की भर्त्सना करने से इनकार कर दिया। उन्होंने रोटी-बेटी के व्यवहार में सावधानी बरतने की सलाह दी और मूल वर्णाश्रम धर्म की हिमायत की, जिसका परिणाम यह हुआ कि आंबेदकर ने साप्ताहिक ***हरिजन*** के लिए यह कहते हुए संदेश देने से इनकार कर दिया कि ''जाति-व्यवस्था को नष्ट किए बिना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है''।[6] याद रखना चाहिए कि 'जुलाई 1933 और फरवरी 1934 के बीच थोड़े समय के लिए जब नेहरू जेल के

बाहर रहे तब ***ह्विदर इंडिया?*** शीर्षक से प्रकाशित अपने पत्रों एवं लेखों में उन्होंने गाँधीजी से अपने सैद्धांतिक मतभेदों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने 'राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बारंबार बल दिया और 'हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' की।[7] जाहिर है कि 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' और 'दलित राजनीति' में टकराव के कई बिंदु थे।

3. मुख्यधाराः भारतीय राष्ट्रवाद और दलित राजनीति

i. यह सच है कि मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद का विकास आधुनिक चेतना के आग्रहों के अंतर्गत हुआ, लेकिन यह आधा सच है। भारतीय राष्ट्रवाद की आधुनिक चेतना ने न तो कभी आधुनिकता को पूरी तरह अपनाया न आधुनिकता की परियोजनाओं को पूरा करने में ही कोई वास्तविक दिलचस्पी दिखलाई। इस राष्ट्रवाद के नायक महात्मा गाँधी थे, संभवत: इसी अर्थ में उन्हें 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है। गाँधीजी के राजनीतिक उपकरण मध्यकालीन चेतना से निर्मित थे--- महात्मा गाँधी की मूल्य-चेतना का शरणागति, करुणा, हृदय-परिवर्त्तन, धार्मिकता से जितना गहरा संबंध था उतना गहरा संबंध सामाजिक अंतनिर्भरताओं, आधिकारिकताओं, परिस्थति-परिवर्त्तन आदि से नहीं था। तात्पर्य यह कि 'भारतीय आधुनिकताबोध' के ऊपर पूर्व-आधुनिकताओं का बोझ पूरी तरह से लदा हुआ था। पूर्व-आधुनिकताओं में जो कर्त्तव्य राजा के थे, उन कर्त्तव्यों को 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की राजनीति' ने, अपनी तमाम सदाशयताओं के बावजूद, अपने राजनीतिक एजेंडे में स्वीकार लिया। राजा के कर्त्तव्य को देखें तो, 'ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख बताते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और संरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा अभिलेखों में आम तौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक संकट आरंभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के पौराणिक पाठ्यांशों से पता चलता है कि आंतरिक संकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के

अभिलेखों में स्पष्ट रूप से और बाद के पुरा लेखों में पारंपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया है।'[8] कहना न होगा कि 'कलि से लोगों का उद्धार करना' वर्णव्यवस्था को बिखराव से बचाना है। जाहिर है कि महात्मा गाँधी जब 'सच्ची वर्णव्यवस्था' की बात करते थे, तो इसे 'राजा के कर्त्तव्य' को 'मुख्याधारा के राष्ट्रवाद की राजनीति' के द्वारा आत्मार्पित करने की ऐतिहासिकता के साथ-साथ 'दलित राजनीति की समस्या' के समकालीन संदर्भ में सचेत होकर गंभीरता से पढ़ने की जरूरत है।

ii.जवाहरलाल नेहरू यद्यपि सोच के स्तर पर गाँधीजी से सहमत नहीं थे, लेकिन अपनी असहमति के राजनीतिक बरताव का साहस या समझ कभी दिखा नहीं पाये। राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बल देने और 'हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' करने के साथ नेहरूजी महात्मा गाँधी के हरिजन आंदोलन को भटकाव मानते थे, लेकिन इसलिए नहीं कि गाँधीजी के हरिजन आंदोलन के औजार 'हिंदू संप्रदायवाद' की वर्णवादी समझ से बने थे। 'गाँधीजी के अन्य अनेक कार्यक्रमों की भांति उनके हरिजन आंदोलन के कार्यक्रमों में भी लक्ष्यों और महत्त्व को लेकर अनेक अस्पष्टताएँ देखने में आती हैं। जवाहरलाल जैसे जुझारू लोगों का विचार था कि यह कार्यक्रम साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मुख्य कार्य से हानिकर भटकाव है; यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती थी कि ब्रिटिश सरकार जेल में गाँधीजी को हरिजन-कार्यक्रम सहर्ष चलाने देती थी। साथ ही, काँग्रेस के भीतर रूढ़िवादी हिंदुओं को यह नई बात अधिकाधिक खल रही थी। उदाहरण के लिए, मालवीय, जो 1920 के दशक के मध्य में गाँधीजी के अत्यंत निकट रहे थे अब उनसे दूर जाने लगे थे। हिंदू संप्रदायवादियों में इस बात से भी क्षोभ बढ़ा कि गाँधीजी ने मैकडोनल्ड -निर्णय की अन्य बातों से कोई सरोकार रखना अस्वीकार कर दिया था जिसके अनुसार पंजाब में मुसलमानों को 49 प्रतिशत और बंगाल में 48.6 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया था (अर्थात यूरोपियन सदस्यों के साथ मिलकर इन प्रांतों में उनका बहुमत हो जाता था)। बंगाल के रूढ़िवादी हिंदुओं को इस बात पर आपत्ति थी कि पूना समझौते ने सदा के लिए सवर्ण हिंदुओं को अल्पसंख्यकों

की हैसियत प्रदान कर दी थी। किंतु जून 1934 में काँग्रेस वर्किंग कमेटी ने एक समझौतापूर्ण 'न स्वीकार न इनकार' का उपाय अपनाया जिसके फलस्वरूप मालवीय ने एक अलग नेशनलिस्ट पार्टी बनाई। अप्रैल और जुलाई 1934 में बक्सर, जसीडीह और अजमेर में सनातनियों ने गाँधीजी की हरिजन सभाओं को भंग किया, और पूना में 25 जून को उनकी कार पर बम से हमला भी किया गया। अँग्रेज सरकार भी आधुनिकीकरण का प्रभाव डालने का दावा तो करती थी, किंतु वह भी रूढ़िवादी जनमत को विरोधी नहीं बनाना चाहती थी। अत: अगस्त 1934 में सरकारी सदस्यों ने लेजस्लेटिव असेंबली में टेंपल एंट्री बिल को पराजित करने में सहायता की।'[9] इस लंबे उद्धरण से यह बात समझ में आती है कि हरिजन की सामाजिक स्थितियों को लेकर 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' का नजरिया कैसा था। न तो मदनमोहन मालवीय जैसे 'रूढ़िवादी' लोगों के मन में 'दलित प्रश्न' को महसूस करने की संवेदनशीलता थी और न ही नेहरू जैसे 'प्रगतिशील' लोगों को इस 'आंतरिक औपनिवेशिकता' से संघर्ष करने की राजनीतिक फुर्सत थी। 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' के चाल-चरित की 'स्थानापन्नता' को देखते हुए ही रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'राष्ट्रवाद की सर्वोच्चता की धारणा' से अपने को मुक्त करना जरूरी समझा होगा! 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[10] रवींद्रनाथ ठाकुर की इस घोषणा के बावजूद बंगाल में 'भारतीय राष्ट्रवाद' के साथ और सहमेल में 'बाँग्ला-राष्ट्रवाद' का विकास भी बहुत तेजी से हुआ, सिर्फ विकास ही नहीं हुआ बल्कि रवींद्रनाथ ठाकुर को ही उसके केंद्रीय व्यक्ति-प्रतीक के रूप में अपनाया भी गया।

iii. पूँजीवाद की साम्राज्यवादी आकांक्षा ने 'राष्ट्रवाद' नाम के ऐसे नुस्खे का आविष्कार किया था जो हर 'मर्ज' की दवा थी--- 'राष्ट्रवाद' के नाम पर राष्ट्र के अंदर के किसी भी

विभेद, विषमता और असहमति को नजरअंदाज करते हुए पूँजी के प्रच्छन्न-हित में सभी राष्ट्रवासियों को जान देने तक के लिए 'पूँजीवाद' आसानी से प्रोत्साहित करता था। 'राष्ट्रवाद' मानवता से ऊँचा मूल्य बनकर शोषण और युद्ध की पीठिका तैयार करता था। 'राष्ट्रवाद' ऐसा दुधारी कटार था जिस से पूँजीवाद देश के अंदर भी अपना हित साधता था और बाहर भी। 'राष्ट्रवाद' मनुष्य को अंधा बनाने का ही उपाय था। जो दूसरे को अंधा बनाने की 'परियोजनाओं' पर काम करता है, उसके खुद के अंधा होते ही कितनी देर लगती है! जल्दी ही 'राष्ट्रवाद' अंधा हो गया। अंध-राष्ट्रवाद ने जो गुल खिलाये वह तो विदित ही है। यह 'दलित राजनीति' का राजनीतिक कौशल ही था कि वह 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' के अंधत्व से बहुत हद तक अपने को बचाये रखा।

iv. गाँधीजी के लिए तो हरिजन आंदोलन 'सच्ची वर्णव्यवस्था' की बहाली का ही उपाय था। 'अगस्त 1932 में मैकडोनल्ड ने सांप्रदायिक मामले में जो निर्णय दिया था, उसमें हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात भी थी। इससे गाँधीजी को यह बात सूझी कि वे अपना ध्यान मुख्य रूप से 'हरिजन-कल्याण' पर केंद्रित करें। 20 सितंबर को गाँधीजी ने हरिजनों के लिए अलग निर्वाचकमंडल के मुद्दे के विरुद्ध 'आमरण अनशन' आरंभ कर दिया, और अंत में सवर्ण हिंदू एवं हरिजन नेताओं के बीच एक समझौता (पूना समझौता) कराने में सफल हुए। इस समझौते के अनुसार मैकडोनल्ड के प्रस्ताव में परिवर्त्तन किये गये। हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचकमंडल बने रहे जिनमें अछूतों के लिए आरक्षित सीटें रखी गई और मैकडोनल्ड की तुलना में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व भी दिया गया। यही व्यवस्था थी जो मूलत: 1947 के बाद भी बनी रही। अब हरिजनों का उत्थान गाँधीजी का मुख्य सरोकर हो गया। एक अखिल-भारतीय छुआछूत-विरोधी लीग की स्थापना की गई (सितंबर 1932) और गाँधीजी के रिहा होने के पूर्व ही साप्ताहिक *हरिजन* का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। नवंबर 1933 और अगस्त 1934 के बीच उन्होंने 12,500 मील की 'हरिजन यात्रा' की और 15 जनवरी 1934 को बिहार में जो भयंकर भूकंप आया उसे

'सवर्ण हिंदुओं के पापों का दैवी दंड' कहा--- यह एक ऐसी सुधार-विरोधी बात थी, पुरातन-पंथी बात थी जिससे रवींद्रनाथ को गहरा सदमा लगा।'[11] वस्तुत: 'हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात' एक राजनीतिक बात थी, सामाजिक नहीं। इसलिए इतना तो समझ में आना ही चाहिए कि 1932 में इस 'राजनीतिक बात' के सामने आते ही 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' ने इस 'राजनीतिक बात' को 'सामाजिक बात' बनाने की गहरी राजनीतिक चुनौती के रूप में लिया। 1932 के बाद, गाँधीजी के सामाजिक कार्यक्रमों को यही राजनीतिक चुनौती प्रेरणा और प्राण प्रदान कर रही थी।

4. हरिजन बनाम दलित

i. चूँकि 'भारतीय राष्ट्र' के गठन में गाँधीजी के विचारों को केंद्रीयता प्राप्त है, इसलिए 'हरिजन बनाम दलित' के संदर्भ को भी गाँधीजी के विचारों की केंद्रीयता में देखा जाना चाहिए। 'हरिजन' और 'दलित' का अर्थ क्या एक ही है? कुछ लोग मानते हैं कि एक ही है। ये 'कुछ लोग' कौन हैं? ये वे लोग हैं, जो गाँधीजी की अवधारणाओं का इस संदर्भ में सही मानते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि एक ही नहीं है। ये 'कुछ लोग' कौन हैं? ये वे लोग हैं, जो गाँधीजी की अवधारणाओं का इस संदर्भ में सही नहीं मानते हैं। ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर हमें यह बात स्वीकारनी चाहिए कि 'हरिजन' और 'दलित' का अर्थ एक ही नहीं है। 'हरिजन' एक सामाजिक समूह को ध्वनित करता है। 'दलित' राजनीतिक समूह को ध्वनित करता है। 'हरिजन' की अवधारणा 'सामाजिक-न्याय' की माँग करती है। 'दलित' की अवधारणा 'राजनीतिक-न्याय' की माँग से परिचालित है। 'हरिजन' की अवधारणा 'सामाजिक संरचना' में बदलाव की माँग करती है। 'दलित' की अवधारणा 'सत्ता की संरचना' में बदलाव के लिए संघर्षशील है। 'सामाजिक-संरचना' में बदलाव की माँग बहुत ही पुरानी 'सामाजिक माँग' है, विभिन्न ऐतिहासिक अवसरों पर इसके लिए सामाजिक-सुधार के आंदोलन हुए हैं।

लेकिन इस या उस कारण से इस संदर्भ में 'सामाजिक संरचना' में कोई परिवर्त्तन घटित नहीं हुआ है। 'दलित राजनीति' का विश्वास दृढ़ होता गया है कि 'सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन घटित हुए बिना 'समाज की संरचना' में परिवर्त्तन का होना असंभव है। संवैधानिक प्रावधानों के होने को उनकी ऐतिहासिकता में देखें तो यह बात समझते देर नहीं लगेगी कि वे 'हरिजन' की अवधारणा से नहीं 'दलित' की अवधारणा से व्युत्पन्न हुए हैं। इस 'हरिजन' ने 'दलित' को कम नहीं छला है, लेकिन मानना होगा कि संवैधानिक प्रावधानों का होना 'हरिजन' पर 'दलित' की एक बड़ी जीत है।

ii. यह ठीक है कि 1789 की 'फ्राँसिसी क्रांति' में उठी 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की माँग और 'भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन' के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उठी 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की माँग की अपनी कुछ विशिष्टताएँ भी हैं, लेकिन इस माँग के धीरे-धीरे कमजोर पड़ते जाने के कारणों में कुछ ऐतिहासिक समानताएँ भी हैं। इन समानताओं को देखना-परखना जरूरी है। डॉ. आंबेदकर अपने लेखनाधीन निबंध 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'समाज की नई आधारशिला फ्रांसिसी क्रांति के तीन शब्दों, बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता में समाहित है। फ्रांसिसी क्रांति का स्वागत इसी संकल्प के कारण हुआ। यह समता लाने में विफल रही। हमने रूसी क्रांति का स्वागत किया क्योंकि यह समता लाने का लक्ष्य रखती थी। लेकिन समता लाने के नाम पर समाज बंधुत्व और स्वतंत्रता का कुर्बान नहीं कर सकता है। बिना बंधुत्व और स्वतंत्रता के समता का कोई मोल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनों को एक साथ सिर्फ बुद्ध के अनुसरण से ही हासिल किया जा सकता है। साम्यवाद एक दे सकता है, सब नहीं।'[12] डॉ. आंबेदकर 'समाज की नई आधारशिला' के रूप में 'बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता' को तो स्वीकारते हैं, इनकी अविभाज्यता को जानते हुए भी इसे अपनी राजनीति के व्यवहार्य एजेंडे में तत्त्वांतरित नहीं कर पाते हैं। कहना न होगा कि राजनीतिक व्यवहार के एजेंडे में इसे तत्त्वांतरित नहीं कर पाना उनके राजनीतिक-दृष्टिकोण को आत्म-खंडित करता है। असल में 'बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता' अलग-अलग न होकर मानवीय-अस्मिता के ही तीन अविभाज्य पहलू हैं।

iii. डॉ. आंबेदकर 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की अविभाज्यता को जानते थे, मानते थे--- संविधान सभा में उन्होंने कहा, 'हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र के रूप में ढालना है। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं टिक सकता जब तक कि उसकी आधारशिला के रूप में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है जीवन की वह राह जो स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में मान्यता दे। स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व के इन सिद्धांतों के त्रित्व को अलग उपादानों के रूप में न समझा जाए। ये सिद्धांत त्रित्व के समेकित रूप का निर्माण करते हैं तथा इनका आशय यह है कि एक को दूसरे से अलग करने का अर्थ है--- लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को नकार देना। स्वाधीनता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वाधीनता से अलग नहीं किया जा सकता और न तो स्वाधीनता और समानता से भ्रातृत्व को अलग किया जा सकता है।'[13] इसके बावजूद 'फ्राँसिसी' और 'रूसी' क्रांति के संदर्भ में 'त्रित्व' को तोड़कर उन पर अभिमत बनाना, 'दलित राजनीति' के लिए आज भी परेशान करनेवाली बात है।

iv. 'बुद्ध के अनुसरण से' ही इन्हें हासिल करना संभव होता तो यह संभव हो चुका होता। इतिहास अपने को दुहराता है, मगर इस तरह नहीं। 'बुद्ध के अनुसरण' या 'शरण' में जाने का मतलब, बाद में विकसित कई अनिवार्य प्रसंगों को नजर-अंदाज करना है। गतकाल में जाकर पुरखों से प्रेरणा लेना और बात है, लेकिन संघर्ष तो हर किसी को समकाल की कठिन भूमि पर ही करना पड़ता है। 'क्रांति का स्वागत करना' काफी नहीं होता है, जरूरी होता है क्रांति करना। क्रांति करने में योगदान करना। अपनी सामाजिक विशिष्टताओं को समझते हुए क्रांति की सही समझ विकसित करना। असल में भारत में यह सबकुछ औपनिवेशिक वातावरण में हो रहा था और औपनिवेशिकता के बहुत सारे अदृश्य प्रभाव होते हैं। इन प्रभावों को काट पाना हर समय संभव नहीं होता है। यह न डॉ. आंबेदकर के लिए संभव हुआ और न भारतीय वामपंथ के लिए ही संभव हुआ इसलिए भी, कि 'आम तौर पर, भारतीय वामपंथ जाति और वर्ग के जटिल संबंधों की ओर पर्याप्त ध्यान देने में असफल रहा।'[14]

v. दुखद है कि 'दलित राजनीति' और 'भारतीय वामपंथ' की दिशा एक थी, लेकिन वे अपनी राजनति के नैसैर्गिक साहचर्य की ऐतिहासिक आवश्यकता को सही अर्थ में आँककर न एक हो पाये, न 'मुख्यधारा की राजनीति' की साझी चुनौती को ही ठीक से समझ पाये। इस साझी चुनौती के महत्त्व के संदर्भ में एक तथ्य इतिहास से, '12 अप्रैल 1934 को बिड़ला ने ठाकुरदास को सलाह दी: "मैं चाहता हूँ कि आप भूलाभाई (देसाई) से संपर्क रखें। यदि स्वराज पार्टी को सफल होना है तो उन्हें नए चुनाव लड़ने के लिए धन की आवश्यकता पड़ेगी और मेरी सलाह है कि बंबई वह धन तबतक न दे जब तक वह इस बात के प्रति संतुष्ट न हो जाए कि सही लोगों को भेजा जा रहा है।" 3 अगस्त 1934 को बिड़ला ने पुन: लिखा: "वल्लभ भाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू सभी कम्युनिज्म और समाजवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। अत: यह आवश्यक है कि हम में से कुछ जो स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि हैं, यथासंभव गाँधीजी की सहायता करें और एक साझे लक्ष्य को लेकर कार्य करें" (ठाकुरदास पेपर्स, फा.नं. 123.42[vi]।'[15] 'स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि' अपने साझे लक्ष्य के अंर्गत ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नहीं 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रसार को रोकने के लिए 'गाँधीजी की सहायता' करते थे और 'मुख्यधारा की राजनीति' को अर्थ उपलब्ध करवाते थे! देखने की बात यह है कि 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रसार को रोकने के लिए ही 'दलित' के सामने 'हरिजन' को खड़ा कर दिया गया--- 'समझदार दुश्मनों' ने हमें 'दर्पण' के सामने खड़ा कर दिया--- हम अपने-आप से लड़ते रहे! देखना दिलचस्प होगा कि हम आज भी लड़ ही रहे हैं, या स्थिति कुछ बदली भी है!

vi. डॉ. आंबेदकर बहुत ही सावधानी के साथ, आजादी और संविधान के हासिल होने के बाद उत्पन्न होनेवाली विरोधाभासी जीवन-स्थितियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णत: अभाव है। इनमें से एक समानता है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे भारत का समाज वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर

आधारित है जिसका अर्थ है, कुछ लोगों के लिए उत्थान एवं अन्यों की अवनति। आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि समाज में कुछ लोगों के पास अथाह संपत्ति है जबकि दूसरी ओर असंख्य लोग घोर दरिद्रता के शिकार हैं। 26 जनवरी, 1950 को हमलोग एक विरोधाभासी जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारे बीच समानता होगी। राजनीति में हम एक-व्यक्ति एक-मत एवं एक-मत एक-मूल्य के सिद्धांत को स्वीकृति देंगे। पर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में वर्त्तमान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के चलते एक-व्यक्ति एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना जारी रखेंगे। हम कब तक इस विरोधाभासी जीवन को जीते रहेंगे, अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे?'[16] दूसरी बात के रूप में वे 'भ्रातृत्व के अभाव' को रेखांकित करते हैं। डॉ. आंबेदकर की चेतावनी को दरकिनार करते हुए हम अपने 'सामाजिक' एवं 'आर्थिक' जीवन में समानता को अस्वीकार करते आ रहे हैं। 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के दौर में तो, इस 'अस्वीकार' को स्वाभाविकता और वैधता मिलने का मौसम ही आ गया है। इस नये मौसम में 'दलित राजनीति' को 'समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रवेश के लिए नये सिरे से संगठित संघर्ष करने की चुनौती को समझना है।

5. आज की दलित राजनीति

i. इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर संक्षिप्त-सी चर्चा के बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज की 'दलित राजनीति' पर विचार करना उपयुक्त होगा। 'स्वतंत्रता' के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ कि धीरे-धीरे 'हरिजन आंदोलन' पिछड़ता गया और 'दलित आंदोलन' बढ़ता गया। यह शुभ हुआ या अ-शुभ, इस पर दो-टूक बात करना मुश्किल है। यह मुश्किल इसलिए भी कुछ अधिक है कि ऐसी चर्चा में अक्सर गुपचुप तरीके से कल्पना अपना काम करने लगती है। कल्पना में हम अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार अनुकूल स्थितियों का चयन कर उसे शृंखलाबद्ध कर लेते हैं, यथार्थ इसकी अनुमति नहीं देता है। ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि 'हरिजन

आंदोलन' का प्रारंभ ही हुआ था 'दलित आंदोलन' को दबाने के लिए। ऐसे में 'दलित आंदोलन' की वैधता से टकराकर 'हरिजन आंदोलन' अगर अप्रासंगिक होता गया तो इसे 'दलित आंदोलन' के लिए शुभ ही माना जाना चाहिए। लेकिन इस ऐतिहासिक दबाव से थोड़ा बाहर निकलकर यह सोचा जाये कि 'दलित आंदोलन' यदि पराजयोन्मुखी 'हरिजन आंदोलन' को अपनी अंतर्वर्त्ती सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अनुकूलित कर अपनी राजनीतिक आकांक्षा के सामाजिक प्रतिफलन के बारे में सचेत होता तो 'सामाजिक परिवर्त्तन' का काम तेजी से आगे बढ़ता। इस तरह 'राजनीतिक लोकतंत्र' के 'सामाजिक लोकतंत्र' में अंतरित होते जाने की प्रक्रिया भी जारी रहती। कहना न होगा कि 'पूँजीवाद' ने 'हरिजन' और 'दलित' को एक दूसरे की विरोधिता में विकसित किया लेकिन यदि 'समता-स्वतंत्रता-बंधुत्व' के लिए संघर्षशील चेतना से संपन्न लोग संगठित रूप से 'हरिजन' और 'दलित' में 'बंधुत्व' की स्थिति बना पाते तो यह काम 'पूँजीवाद' के हितों पर चोट ही पहुँचाता। असली दुश्मन न तो 'गाँधी जी का दृष्टिकोण' था और न 'हरिजन', असली दुश्मन तो 'पूँजीवाद' ही था और है। अब, आज की 'दलित राजनीति' की समस्याओं के संदर्भ में देखें तो कुछ बातें साफ होती हैं।

ii. आज की 'दलित राजनीति' अपने एजेंडा में 'ब्राह्मणवाद' के विरोध को तो शामिल करती है, लेकिन 'पूँजीवाद' के सवाल पर या तो उसके पास कथ्य ही नहीं है या फिर चुप है। आज की 'दलित राजनीति' की व्यावहारिकता इस बात से कत्तई सचेत नहीं है कि अन्य जातियों, जिनमें दलित भी शामिल हैं, के सदस्यों में भी स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं का निषेध, अर्थात 'ब्राह्मणवाद' का समर्थन हो सकता है। संसदीय राजनीति की बाध्यताओं से संघर्ष करने के बदले उसकी सुविधाओं की माँग पर आज की 'दलित राजनीति' कई बार सामाजिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं का निषेध करती हुई भी प्रतीत होती है, अधिक-से-अधिक, दलितों के बीच स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं की बहाली की बात करती हुई, 'ब्राह्मणवाद' के एजेंडे को ही लागू कर देती है।

iii. 'कामगार' से तात्पर्य श्रम से आजीविका का उपार्जन करनेवाले से है। 'कामगारों' से मुख्य आशय सिर्फ 'संगठित क्षेत्र' के कामगारों तक सीमित होकर रह गया है। 'संगठित क्षेत्र' के कामगारों के बीच रोजी-रोटी, वेतन एवं अन्य सुविधाओं आदि के लिए श्रमिक संगठन हैं। ऐसे 'श्रम संस्थान' में भी 'श्रम-विभाजन' के साथ ही 'श्रमिक विभाजन' की नई पद्धतियों से टकराने की जरूरत को बरतने की मन:स्थिति विकसित नहीं हो पाई है। 'आरक्षण कवच'[17] के साथ जो 'कर्मचारी ऐसे प्रतिष्ठानों से जुड़ते हैं, उनका एक अलग 'प्रगतिशील' संगठन तो होता है लेकिन यह संगठन 'श्रमिक विभाजन' की प्रक्रियाओं को रोक कर सामाजिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं को प्रोत्साहित करने की अपनी सचेत-सक्रिय भूमिका को अपने एजेंडे में शामिल नहीं कर पाता है। होना तो यह चाहिए था कि ट्रेड युनियनें 'पूँजीवाद' की बुराइयों के खिलाफ और ऐसे प्रगतिशील संगठन 'ब्राह्मणवाद' की बुराइयों के खिलाफ अलग-अलग संघर्ष करते और आपस में ताल-मेल बनाकर 'पूँजीवाद' और 'ब्राह्मणवाद' से एक साथ निपटते। लेकिन ये दोनों ही संगठन, एक दूसरे को शक की निगाह से देखते हैं और आपसी अलगाव में पड़े रहते हैं। यह अलगाव 'पूँजीवाद' और 'ब्राह्मणवाद' की औपनिवेशिक मनोवृत्तियों को और अधिक पुष्टि एवं सामाजिक अनुकूलन प्रदान करती है।

iv. जाहिर है कि इस तरह से औपनिवेशिक मनोवृत्तियों के बने रहने और निरंतर पुष्ट होते रहने से 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की भावना विकसित नहीं हो सकती है। आज के दौर में जब 'सभ्यताओं के संघात'[18] और नई विश्व-व्यवस्था की बात जोर-शोर से उठ रही है। 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की भावना के नये सिरे से विकास के लिए 'नवनैतिकता' की मनोभूमि तैयार करने का दायित्व हमारे सामने है। बदलाव की नई हवा की दशा-दिशा और इससे उत्पन्न प्रदूषणों को भी समझना होगा। यह सभ्यता और संस्कृति के जटिल सवालों की पुरानी गुत्थियों के खुलने और नई गुत्थियों के बनने का दौर है। भारतीय राज और समाज की पुरानी गुत्थियाँ खुल नहीं पाई हैं और नई गुत्थियाँ तेजी से बन रही हैं। प्रत्येक क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताएँ अपने-अपने तरीके

से अपनी-अपनी जनता को बाद देकर पूँजीवाद के प्रभुत्व को बढ़ाने में दिलचस्पी ले रही हैं। इतिहास बताता है कि बाहरी औपनिवेशिक दासता में जकड़नेवाले 'विदेशी अंगरेजों' और देश को आंतरिक औपनिवेशिक दासता में जकड़ रखनेवाले 'देशी प्रभुओं' के बीच कैसी कूट और कुटिल समझदारी विकसित हुई थी। असल में यह सत्ता और सत्ता के बीच की अंतर्निहित एकता है। देशी और विदेशी जैसे विशेषण सिर्फ भरमाते हैं।

v.यह याद रखना चाहिए कि 'भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष' असल में 'समस्त अंगरेज जाति' के विरुद्ध 'समस्त भारतीयों का संघर्ष' नहीं था। यह 'अंगरेज जाति की औपनिवेशिक शक्ति' के विरुद्ध उन भारतीयों का और कुछ अ-भारतीयो का भी, संघर्ष था जो एक साथ बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए आग्रहशील थे। ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक-राजनीतिक पूर्णता के साथ यह संघर्ष 'मुख्यधारा की राजनीति' नहीं कर रही थी--- 'मुख्यधारा की राजनीति' सिर्फ बाहरी उपनिवेश के राजनीतिक और कुछ हद तक विदेशी पूँजी के वर्चस्व से लड़ रही थी जबकि 'दलित राजनीति' बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए लड़ रही थी; हालाँकि देशी-विदेशी पूँजी के वर्चस्व से संघर्ष 'दलित राजनीति' के राजनीतिक एजेंडे में प्रमुखता से शामिल नहीं था। फिर भी खास अर्थ में देखा जाये तो 'मुख्यधारा की राजनीति' की तुलना में 'दलित राजनीति' अधिक पूर्णता से संघर्ष कर रही थी। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की पूर्णता के समर्थक अंगरेज जाति के लोगों में भी थे और इस संघर्ष की पूर्णता के विरोधी भारतीयों में भी थे। विभिन्न क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताओं की बनाई पुरानी गुत्थियों को खोलने और नई गुत्थियों के बनने नहीं देने में निर्विशिष्ट मानवीय मेधा का इस्तेमाल करना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। इसका कारण सत्ता के स्वभाव में ही निहित है। दुनिया भर की सत्ताएँ अपने हित-संरक्षण के मामले में समान मनोवृत्ति से संचालित होती हैं। सत्ता की सहचरी के रूप में राजनीति में पृथक्करण की प्रवृत्ति जितनी तेज होती है, एकीकरण की प्रवृत्ति उतनी तेज नहीं होती है। पृथक्करण राजनीति की शैली है, एकीकरण सामाजिकता की शैली है। 'राजनीति'

और 'सामाजिकता' के एक साथ सक्रिय रहने से 'पृथक्करण' और 'एकीकरण' से संतुलन बना रहता है। 'राजनीति' इस संतुलन के भंग हो जाने की कीमत पर भी 'सत्ता की सीढ़ी' पकड़ने के लोभ से अपने को बचा नहीं पाती है।

vi. सत्ताएँ और सामाजिकताएँ, गोचर-अगोचर रूप से, आपस में भिड़ती रहती है। ध्यान में रहना ही चाहिए कि सत्ता अपने स्वभाव से ही भूमंडलीय व्याप्तिवाली होती है। राजा को 'जगदीश्वर' ही बताया और माना जाता है। सामाजिकताएँ अपने स्वभाव से ही स्थानिक होती है। आज के संदर्भ में ग्लोबल और लोकल के संघर्ष का संदर्भ सत्ता और सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। सत्ता अपने को ईश्वर मानती है और इस मामले में उसका स्वभाव 'एकेश्वरवादी' होता है। दो सत्ताएँ एक साथ अस्तित्व में रह नहीं सकती है, इसलिए उनमें वर्चस्व का संघर्ष सदा जारी रहता है। आज की 'सत्ता' का नाम 'पूँजी' है। बड़ी सत्ता छोटी-छोटी 'सत्ताओं' को व्यावहारिक रूप से अधीनस्थ 'सामाजिकताएँ' ही मानती है। उदाहरण के लिए विकसित देश की सत्ता की नजर में विकासशील देश की कोई सत्ता नहीं होती, महज सामुदायिकताएँ या अधिक-से-अधिक 'सामाजिकताएँ' होती है; इसलिए विकासशील राष्ट्रों की 'संप्रभुता' का कोई अर्थ नहीं होता है। अब एक गंभीर सवाल से हमारा सामना होता है। यह सवाल है, 'राष्ट्र की संप्रभुता' के असली अर्थ को ढूढ़ निकालने का। इस अर्थ को ढूढ़ने में कठिनाई कहाँ है? पहली कठिनाई यह है कि 'बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी' के बढ़ते वर्चस्व के इस दौर में जब 'राष्ट्रों की राजनीतिक सीमाएँ' तेजी से भंजनशील हो रही हैं और 'बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी' की आकांक्षित और संपोषित 'अधि-राष्ट्रीयता'[19] उठान पर है, तब 'राष्ट्रों की संप्रभुता' का वास्तविक अर्थ क्या ठहरेगा? कल तक हम यह मानते रहे हैं कि 'संप्रभुता' राष्ट्र की जनता में निवास करती है, लेकिन अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि 'संप्रभुता' का असली निवास 'पूँजी' में होता है। किसकी 'पूँजी' में? राष्ट्र की 'पूँजी' में? लेकिन राष्ट्र तो 'पूँजी प्रक्षेत्र' से बाहर हो रहे हैं! असल में नई विश्वव्यवस्था का तकाजा है कि जिसकी 'पूँजी' होगी, 'संप्रभुता' भी उसी की होगी; चाहे वह व्यक्ति हो, कोई कंपनी हो, या कुछ और ही क्यों न हो। जिसकी जितनी

'पूँजी' होगी, उसकी उतनी 'संप्रभुता' होगी! कहना न होगा कि 'परुष पुरातन की बधु' होने के कारण 'पूँजी' अपने स्वभाव से ही चंचल होती है, 'पूँजी' का चांचल्य 'संप्रभुता' को भी चंचल बनाता है।

vii. अब समस्या यह कि जब 'राजनीतिक राष्ट्रों की संप्रभुता' ही नहीं बचेगी, तब 'सामाजिकताओं का सम्मान' और 'नागरिकों के राजनीतिक एवं मानव अधिकार' ही कैसे बचेंगे? 'पुरानी विश्वव्यवस्था', यानी राजनीतिक नियंत्रण, सामाजिक संतुलन और जनतांत्रिकता में निहित जनाधिकार की समतोन्मुखी आकांक्षित संवैधानिक व्यवस्था, की आधारभूत संरचना में परिवर्त्तन किये बिना उसकी अंतर्वस्तु में विचलनकारी गुणात्मक परिवर्त्तन कर, 'नई विश्वव्यवस्था' तैयार की जा रही है। 'पुरानी विश्वव्यवस्था' की अवधारणाओं में 'नई विश्वव्यवस्था' चुपके से नया और पुराने से भिन्न तथा विपरीत अर्थ भरती है। 'नई विश्वव्यवस्था' शब्दों के निहितार्थ को बदल रही है। कभी 'फ्रैंडली फायर' और 'कोलेटरल डैमेज' जैसे विरोधी अर्थों को एक शब्द-युगम में नत्थीकर उनमें नये निहितार्थ का संपुट किया जा रहा है, तो कभी शब्दों को जस का तस बनाये रखकर भी उसकी मूल संकल्पना को बदलने की कोशिश की जा रही है। बदली हुई संकल्पना को वैकल्पिक अर्थ बताया जाता है। 'नई विश्वव्यवस्था' वैकल्पिक अर्थ के स्थिर होने की जाँच करती रहती है। हाल ही में इस तरह की जाँच का अभियान 'वाशिंगटन पोस्ट' ने चलाया था। पाठकों से 'शब्दों के वैकल्पिक अर्थ' के बारे में सुझाव माँगा गया था। 'नई विश्वव्यवस्था' की धमक के पहले कौन कह सकता था कि 'मुक्ति' और 'जनतंत्र' का वह अर्थ है जिस अर्थ में अमेरीकी प्रशासन, खासकर अफगानिस्तान और इराक में, उसका इस्तेमाल करता है! 'लिबरलेजाइशन' या 'उदारीकरण' का ऐसा अर्थ भी हो सकता है, किसने सोचा था! राजसत्ता ने हमेशा भाषा पर कब्जा करने की भी कोशिश की है। राज-सत्ता की कोशिश के सफल होने के साथ ही जनसत्ता ने अपनी भाषा को बदल दिया है। भाषाओं के विकास के सामाजिक प्रसंग को ध्यान में रखा जा सकता है। ऐसा नहीं होता तो 'भद्र' का विकसित रूप 'भद्द और भद्दा' कैसे हो जाता! पुराने शब्दों में नये

और विपरीत अर्थों की तानातानी होने पर बौद्धिक विमर्श में 'तर्क की ताकत' कम होती है और 'ताकत का तर्क' अधिक प्रभावी होता है। जाहिर है, वाद-विवाद तो खूब होता है, लेकिन संवाद कभी सफल नहीं होता है। इस 'नई विश्वव्यवस्था' में 'पूँजी की संप्रभुता' का विन्यास है और इससे 'श्रम की सत्ता' का सत्यानाश होते जाना तय है। 'श्रम की सत्ता' के सत्यानाश का मतलब मनुष्यता की सत्ता के नाश के अलावे और हो ही क्या सकता है! मुख्य सवाल यह है कि 'श्रम की सत्ता' को बचाने के लिए क्या किया जा सकता है?

viii. 'सत्ता' की डोरी आंदोलनों के जरिये तैयार होती है। 'दलित राजनीति की समस्या' के खास संदर्भ में देखें तो एक बड़े और टिकाऊ सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन चलाने की तैयारी में लगना सबसे बड़ी समस्या है। इस तैयारी की पहली बड़ी समस्या 'दलित' की पहचान को लेकर ही है। खासकर आंदोलन के लिए इस पहचान का संकट और गहरा है। 'दलित राजनीति' का एक बड़ा अंश 'दलित पहचान' को जन्म से जोड़ता है। मुश्किल यह है कि 'जन्म' के आधार पर 'पहचान' तो ब्राह्मणवाद का सिद्धांत और लक्षण है। दलित नेता इस बात को जाने हुए भी क्यों 'बह्मणवाद' के औजार को अपनाते हैं या अपनाने के लिए विवश होते हैं। डॉ. आंबेदकर ने तो कहा था कि 'ब्राह्मणवाद' सिर्फ ब्राह्मणों तक सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है, आशय यह कि यह 'दलितों' में घुसा हो सकता है। 'दलित राजनीति' का लक्ष्य सिर्फ 'दलितों' तक ही सीमित क्यों हो? 'दलित राजनीति और आंदोलन' का लक्ष्य सिर्फ 'दलित विरोधी' को उखाड़ फेकना ही क्यों हो, 'दलित राजनीति और आंदोलन' का लक्ष्य मानवता विरोधी, समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व विरोधी सारी शक्तियों का विरोध क्यों न हो? इन सवालों से टकराते हुए 'दलित आंदोलन और राजनीति' को अपने लक्ष्य के अनुकूल 'विचारधारा' का विकास करना जरूरी है। कहना न होगा कि विचारधारा के विकास में पहले से उपलब्ध विचारधाराओं की अनुकूलताओं को सावधानी से परखना भी जरूरी होता है। लक्ष्य और विचारधारा के अनुसार

दीर्घकालिक और तात्कालिक कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करने के लिए नेतृत्व और संगठन पर काम करना और इन्हें सूत्रबद्ध करना बड़ी समस्या है।

ix. लक्ष्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व और संगठन जैसे अनिवार्य घटक एक-दूसरे से स्वायत्त न होकर परस्परावलंबित होते हैं। ये आंदोलन के अविभाज्य घटक हैं। इन में से किसी एक का भी अभाव आंदोलन को विकलांग बनाता है। जीवन के मूल्य-समुच्चय की आंतरिक प्रणाली में नये मूल्य के समायोजन या फिर एक मूल्य-समुच्चय को तजकर सर्वथा नये मूल्य-समुच्चय को अपनाने के लिए एक मूल्यबोध से दूसरे मूल्यबोध तक की यात्रा में व्यक्तिगत रूप से सहमत होकर सामूहिक रूप से क्रियाशील होने से ये घटक संघटित होकर आंदोलन का रूप लेते हैं। कोई राजनीतिक कार्रवाई तब आंदोलन हो जाती है, जब उसमें व्यापक जनता की भागीदारी होती है और जो उस कार्रवाई में सक्रिय रूप से शामिल नहीं होते हैं, यहाँ तक कि जो उसके प्रत्यक्षतः लाभार्थी नहीं भी होते हैं, उनकी भी सहमति और सहानुभूति अर्जित करती है। यह विमर्श काफी दिलचस्प हो सकता है कि आंदोलन के भीतर से उसके ये घटक बनते हैं या इन घटकों के मिलने से आंदोलन बनता है। लेकिन मुख्य बात यह है कि न तो कोई आंदोलन पूर्णत: स्वत:स्फूर्त्त होता है और न पूर्णत: निदेशित। हालाँकि राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की सही मति ओर गति रेखाएँ एक दूसरे से संवादी होती हैं, बहुत कम अवसरों पर एक दूसरे से उलझती हैं फिर भी उनके लक्ष्यों की प्राथमिकता के अंतर से उनमें महत्त्वपूर्ण अंतर भी होता है। इस अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। कई बार राजनीतिक परिवर्त्तन सरकार में परिवर्त्तन के आशयों से ही सीमित होकर रह जाता है। लेकिन सरकार में परिवर्त्तन राजनीति में परिवर्त्तन की सही सूचना नहीं भी हो सकता है। राजनीति में परिवर्त्तन का अर्थ होता है शासक और शासित, कई बार इसे शोषक और शोषित के रूप में भी पढ़ना जरूरी होता है, के बीच बहुस्तरीय संबंधों के नियामक कारकों में, विभिन्न हितग्राही समूहों के पारस्परिक संबंधों और सत्ता के साथ उनके संबंधों की जारी सामंजस्य शृँखला में परिवर्तन। राजनीतिक परिवर्त्तन का यह काम वैधानिक स्तर पर होता है और राजनीतिक सत्ता इसके लिए नियम बनाती है। वर्चस्वशाली समूह और उनकी विचार-पद्धति तथा उनकी कार्य

प्रणालियों में बदलाव सामाजिक परिवर्त्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्त्तन का यह काम सांस्कृतिक स्तर पर होता है और समाज सत्ता इसके लिए मन बनाती है। चूँकि सामाजिक परिवर्त्तन का कोई भी प्रयास समाज के वर्चस्वशाली हित-समूहों को प्रभावित करता है, इसलिए वर्चस्वशाली हित-समूह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की सही मति और गति को नये-नये उलझावों में डालकर वैचारिक और सांस्कृतिक भटकाव का मायावी वातावरण रचता रहता है। यह बहुत ही सूक्ष्म तथा मनोनुकूलन के रूप में होता है। जनमत का एक रूप ऐसा होता है जो समाज के वर्चस्वशाली हित समूहों की इस माया परियोजना को जानबूझकर, और कई बार सामाजिक प्रवाह की बहती धारा के प्रभाव में अनजाने भी, अपने विचार का हिस्सा बना लेता है। जनमत का दूसरा रूप वह होता है जो सामाजिक प्रवाह की बहती धारा के प्रभाव को समझते हुए उसके साथ संघर्षशील होता है और समाज के वर्चस्वशाली हित समूहों की इस माया परियोजना का जानबूझकर, कई बार अनजाने में भी, विरोध रचता है। यहीं हम देख सकते हैं कि औपनिवेशिक वर्चस्व में रह चुके देशों के उत्तर-औपनिवेशिक राज में भी देशी-जनतांत्रिक सत्ताएँ वर्चस्व बनाये रखने की औपनिवेशिक युक्तियों का इस्तेमाल करना सहज ही नहीं छोड़ देती हैं। हमारा अनुभव बताता है कि बिना क्रांति के हुए सत्ता परिवर्त्तन से सर्वांगीण राजनीतिक परिवर्त्तन घटित नहीं हो पाता है।

x. राजनीतिक परिवर्त्तन के क्रम में नियम बनाये जाने के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर सामाजिक मन नहीं बन पाता है। इसलिए नागरिक संहिता में उपकारी नियमों के रहते हुए भी सामाजिक जीवन में सौमनस्य नहीं बन पाता है। यह काम अधूरा रह जाता है। इस अधूरे काम को पूरा करने में साहित्य की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थात सामजिकता के वि-औपनिवेशीकरण की दरकार बनी हुई रहती है। राजनीतिक परिवर्त्तन का लक्ष्य सिर्फ सत्ता परिवर्त्तन नहीं होता है, बल्कि सामाजिक परिवर्त्तन तक पहुँचकर ही सार्थक बनता है। इसके लिए आज के जटिल समय में सामजिक अभिप्रेरणाएँ तो चाहिए ही राजनीतिक और आर्थिक अभिप्रेरणाएँ भी चाहिए। स्वाभाविक ही है कि इस काम में राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों को झटककर 'सामाजिक स्वायत्तता' के प्रति समर्पित युरोप-केंद्रित 'नव सामाजिक

आंदोलन' जैसा आंदोलन 'स्वतंत्रता, समता ओर बंधुत्व' को हासिल करने का लक्ष्य रखनेवाले आंदोलन की प्रेरणा का आधार नहीं बन सकता है (देखें 5 का xi)। कहना न होगा कि 'स्वतंत्रता का राजनीति' से, 'समता का आर्थिकी' से और 'बंधुत्व का सामाजिकता' से गहरा संबंध होता है। अत: जिस प्रकार 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को विच्छिन्न करना आत्मघाती होता है, उसी प्रकार 'राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक' प्रसंगों को विच्छिन्न करना भी आत्मघाती होता है। इनके संयोजन-सहयोजन का सूत्र संगठन से निकलता है। संगठन अर्थात, लक्ष्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व की व्याघाती प्रवृत्तियों को उनके न्यूनतम स्तर पर ले जाकर उनका इस तरह का अंतर्गुंफन तैयार करना कि वे सह-क्रियाशील[20] मुद्रा में एक दूसरे की संवेदनशीलता से जुड़े रह सकें। इतिहास प्रसिद्ध अनुभव है कि सत्ता पर अधिकार असंगठित बहुसंख्यक का नहीं संगठित अल्पसंख्यक का ही होता है। 'श्रम की सत्ता' भी संगठन से ही स्थापित होती है। दलित अनुभव यह है कि संगठनहीनता के कारण श्रम की सत्ता को स्थापित करने में उसे कामयाबी नहीं मिल पायी।

xi. बदलाव प्रक्रिया से गुजर रही दुनिया के विभिन्न समाजों में आत्मान्वेषण का काम नये सिरे शुरू हुआ है। इसी परिप्रेक्ष्य में आज के 'नव सामाजिक आंदोलन' की गति-मति को समझा जा सकता है। वस्तुत: युरोप केंद्रित यह 'नव सामाजिक आंदोलन' 'उत्तर-आधुनिक' प्रेरणा से संचालित है। यह आंदोलन न तो जीवन के आर्थिक प्रसंगों की बात करता है और न ही राजनीतिक प्रसंगों की। यह नागरिक समाज की स्वायत्तता पर ही पूरा जोर देता है। यह राज-शक्ति से स्वायत्त समाज-शक्ति की आकांक्षा रखता है। यह एक अद्‌भुत आकांक्षा है। अद्‌भुत यह कि यह आंदोलन राज और समाज के संबंधों को किसी सहजता और सातत्य के सहयोजी प्रसंग में न देखकर इन्हें एक दूसरे के धुर विरोधी के ही रूप में सामने लाता है और सामाजिक न्याय के नाम पर मानवाधिकारों का मामला उठाते हुए राज से छिटक जाने की पेशकश करता है। यह सच है कि समाज और राज दोनों एक ही नहीं हैं। जाहिर है कि समाज-शक्ति और राज-शक्ति भी एक ही नहीं हैं। लेकिन आज के समय में समाज-शक्ति हो या राज-शक्ति हो, उन्हें राजनीतिक प्रक्रियाओं की जटिलताओं से विच्छिन्न करना संभव नहीं है। यह तो ध्यान में रखना ही होगा कि राजनीति को सिर्फ राजनीतिक दलों तक

सीमित मानकर चलना, हमें भटकाव में डाल दे सकता है। सही बात तो यह है कि राजनीतिक सहयोजिता की उपेक्षा से सामाजिक न्याय की अवधारणा समझ में ही नहीं आ सकती है। यद्यपि कुछ जीवन प्रसंग वर्ग संदर्भों से बाहर रहकर भी कुछ दूर तक सार्थक ढंग से समझे जा सकते हैं, लेकिन यह कहना बचकाना ही है कि आज की एक ध्रुवीय होती जा रही दुनिया में वर्ग विलुप्त हो गये हैं। वर्ग के वैश्विक आयाम जरूर प्रकट हो रहे हैं (देखें 5 का vi) क्योंकि, 'लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में लोकतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। हाल के दिनों में औद्योगिक और विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में भूमंडलीकरण विरोधी अभियान में यह नया यथार्थ उभर कर सामने आया है। हालांकि, इनके विभिन्न रूप हैं और विभिन्न कार्यसूचियाँ हैं फिर भी एक बात पर इनमें साम्य है कि विश्व के गरीब लोगों की समस्याओं के लिए विश्व संस्थाएँ और विश्व नेता जबावदेह हैं। इसे आपातकालीन समस्या माननेवाले ये विरोधी अकेले नहीं हैं।'[21]

xii. संभवत: जातीय या सामाजिक उपविभाजनों के अंतर्गत वर्गबोध को समझने के साथ ही भूमंडलीय यथार्थ के अंतर्गत उसके वैश्विक आयाम को पहले की अपेक्षा अधिक आसानी से स्पष्ट किया जा सकेगा। लेकिन वर्गबोध तो रहेगा ही। दुनिया में वर्गों की अवस्थिति या वर्गविभाजन का कारण दुनिया की बहुध्रुवीयता नहीं थी, इसलिए दुनिया के एकध्रुवीय, जो हकीकत से अधिक बोध है, होने से वर्गसंरचना में ही क्या अंतर आ सकता है! उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि पर्यावरण को लेकर चलनेवाला आंदोलन एक गैर-वर्गीय आंदोलन है। लेकिन क्या सचमुच? पर्यावरण के उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय और कामगारों एवं आदिवासियों के जुड़ाव, प्रभाव और मुद्दे क्या बिल्कुल एक ही हैं? 'नव सामाजिक आंदोलन' समाज के वि-राजनीतिककरण पर इतना जोर देता है तो निश्चय ही इसके पीछे राजनीति की इकहरी और राजसत्तात्मक समझ ही हो सकती है। वैसे कभी-कभी वि-राजनीतिकरण की प्रक्रिया की प्रेरणाएँ भी राजनीति की अतल गहराइयों से निकल रही होती हैं! सामाजिक परिवर्त्तन के लिए किया गया कोई भी प्रयास श्रम और संपत्ति के संबंधों में

बदलाव, संसाधानों के वितरण, चिरंतन विकास के लिए भूमंडलीय पर्यावरण के संदर्भों से जोड़कर ही संभव होता है; राजनीतिक उपकरणों के उपयोग के बिना यह संभव नहीं हो सकता है।

xiii. सामाजिक परिवर्त्तन के प्रयास मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी संदर्भ से भी समझे जा सकते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण समाज में व्यापक ओर क्रांतिकारी परिवर्त्तन की आवश्यकताओं के विभिन्न स्तरों को स्पष्ट करता है। मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिक परिवर्त्तन के आधार कारण आर्थिक संरचना में अंतर्निहित होते हैं। आज के भूमंडलीय वातावरण में वर्ग के विलोप और वर्ग के स्थान पर समुदाय की अवधारणा की सिद्धांतिकी प्रस्तावितकर विश्लेषण और संघर्ष के सबसे कारगर औजार को भोथरा किया जा रहा है। आज के समुदाय कबिलाई नहीं हैं। आज जीवन के सारे संदर्भों में वर्गविभाजन पहले से कहीं अधिक तीखा है। यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि समुदाय भी वर्ग-विभक्त होता है और समाज भी। वर्ग-विभक्त समाज में श्रम और सत्ताधिकरणों के परस्पर विरोधी हितों के संघर्ष अंतर्विरोध पैदा करते हैं। सत्ताधिकरण राजशक्ति के साथ-साथ धर्म, शिक्षा, जनसंचार आदि का इस्तेमाल करते हुए शेष समाज पर अपनी हितैषी विचारधारा की लदनी करता है। इस लदनी के माध्यम से वह शेष समाज को अनुकूलित और नियंत्रित करता है। ऐसी स्थिति में सत्ताधिकरणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए इस लदनी को उतार फेकना जरूरी होता है। लदनी उतारने का यह काम क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया में ही संभव होता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में संघाती आर्थिक हितों की पेचीदगियाँ ही प्रमुख रहती है। इस पर पूरा जोर दिये जाने के कारण सामजिक एकता और विभाजन के वर्गेतर आधार पर कई बार अपेक्षित ध्यान दे पाना संभव नहीं हो पाता है। इधर सामाजिक एकता और विभाजन के अन्य आधार के रूप में जातीयता और धर्म सहित अन्य सांस्कृतिक कारकों की ओर भी समुचित ध्यान दिये जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। अब सांस्कृतिक संदर्भों का नये सिरे से मूल्याँकन करने और वर्ग चेतना के विकास की एक रेखीय अवधारणा की जगह उसकी बहुआयामिता की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक माना जा रहा है। बहुआयामिता पर ध्यान देते हुए भी हमें वर्गीय चेतना के संदर्भ में संरचनागत अंतर्विरोधों पर भी ध्यान बनाये रखना होगा।

6. दलित राजनीति की सीमा और संभावना

i. 'दलित विमर्श की भूमिका' में कँवल भारती के निष्कर्ष से दलित राजनीति की सीमा और संभावना पर बात शुरू की जा सकती है। उनका निष्कर्ष है, 'डा. आंबेदकर ने कहा था कि दलित समान विचारधारा वाले दलों से मिलकर अपनी राजनीतिक शक्ति बना सकते हैं। लेकिन दलितों के लिए समान विचारधारावाला दल न काँग्रेस है और न भाजपा, वह मार्क्सवादी दल ही हो सकता है। पर मौजूदा मार्क्सवादी दल भाजपा और काँग्रेस के ही लग्गू-भग्गू बने हुए हैं। इसलिए रेडिकल मार्क्सवाद के साथ रेडिकल आंबेदकरवाद के गठन की सख्त जरूरत है। डा. राजाराम की मानें तो तो रूस में मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की, चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की, तो भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेदकरवाद को मिलाकर क्रांति क्यों नहीं हो सकती?'[22] काँग्रेस की बात कुछ-कुछ समझ में आ सकती है। लेकिन भाजपा? गंभीर चिंतन के निष्कर्ष को तत्काल के ऐसे दबावों ओर भटकावों से बचाना नहीं चाहिए? तत्काल के ऐसे दबावों से कई सीमाएँ निकल आती हैं। 'मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की' किसके नेतृत्व में की? लेनिन के नेतृत्व में! 'चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की' किसके नेतृत्व में की? माओ के नेतृत्व में! 'भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेदकरवाद को मिलाकर क्रांति' किसके नेतृत्व में हो सकती थी? आंबेदकर के नेतृत्व में! क्यों नहीं हो सकी? इसका जवाब कौन देगा ? 'समान विचारधारा' का सुझाव देनेवाले डॉ. आंबेदकर का 'असमान विचारधारावाले' काँग्रेस के साथ मिलाप और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उनके संबंधों की व्याख्या में भी कठिनाई आ सकती है। इतिहास से संवाद करने की जरूरत होती है, बार-बार होती है, लेकिन इतिहास का मुँह चिढ़ाना इतिहास से संवाद करना नहीं होता है। क्रांति एक चमक है। इससे चौंधिया जाने के बहुत सारे अवसर आते हैं। क्रांति का अपना रोमान होता है, लेकिन रोमान से क्रांति नहीं होती।

काश कि क्रांति इतनी आसान हुआ करती! बहरहाल आज की राजनीति की समस्या ओर दलित राजनीति की समस्या और इन समस्याओं के पारस्परिक सरोकारों पर बात करते हुए आज की राजनीतिक चुनौतियों के भारतीय परिप्रेक्ष्य पर बात करना अधिक प्रासंगिक है।

ii. 'विविधता में एकता' को 'फैलाकर विषमता में एकता' तक भी चाहे क्यों न ले जाया जाए, सच तो यह है कि भारतीयता परिप्रेक्ष्य बुरी तरह विभंजित रहा है। इस विभंजन में कई कारकों की सक्रिय भूमिका होती है। यहाँ दलित सिर्फ दलित नहीं होता है, मराठी, हिंदी, पंजाबी, काँग्रेसी, बहुजनवादी, भाजपाई, दरिद्र-अमीर शिक्षित-अशिक्षित दलित भी होता है। 'हम' और 'अन्य' के निर्धारण के ढेर-सारे वास्तविक और आभासी कारक एक साथ सक्रिय रहते हैं। इन कारकों में अंतर्विरोध ही नहीं, अंतर्व्याघात भी होता है। इन कारकों को स्थगित या निष्क्रिय करना बहुत मुश्किल है। मार्क्सवाद के पूर्ण जानकार और उस पर भरपूर भरोसा रखनेवाले भी अपने घर में बैठे-बैठे कम्युनिस्ट नहीं हो जाते हैं। कम्युनिस्ट होने के लिए जरूरी है, संगठित होना, संगठित करना, बदलाव की रणनीति पर संगठित और सुनियोजित तरीके से अमल करना, समाज के वर्गीय आधार की समझ और सहानुभूति को तीव्रता के साथ उभारना। कम्युनिस्ट अपने-आप में महाविशेषण है। इसके साथ आनेवाला दूसरा विशेषण या तो खुद खंडित हो जाता है, या इसे खंडित कर देता है। जिस प्रकार 'ब्राह्मण कम्युनिस्ट', 'राजपूत कम्युनिस्ट', 'हिंदी कम्युनिस्ट', 'बंगाली कम्युनिस्ट' आदि नहीं होता है उसी प्रकार 'दलित कम्युनिस्ट' भी नहीं हो सकता है। लेकिन हमारी मुसीबत यह है कि हमारे यहाँ 'ब्राह्मण कम्युनिस्ट' और 'दलित कम्युनिस्ट' हो सकते हैं। 'हिंदी कम्युनिस्ट' या 'बंगाली कम्युनिस्ट' भी होते हैं! माना जाना चाहिए कि कम्युनिस्ट होना थोड़ा मुश्किल काम है। वर्गीय आधार के अनुसार व्यवहार तक पहुँचने के पहले वर्गेतर आधारों को समझना और उसे निष्प्रभ करना दायित्व है।

iii. वर्ग-स्वार्थ के अलावे भी इसके कारणों की खोज की जानी चाहिए। पहली नजर में तो यह भी लगता है कि उच्च वर्ण से संबंधित वे लोग भी जिन्हें वर्ग-स्वार्थ के कारण

स्वाभाविक रूप से दलित-स्वार्थ के निकट होना चाहिए या हैं, वर्गीय आधार को अस्वीकृतकर उभरती हुई दलित संदर्भ की 'प्रतिरोधी चेतना' को 'प्रतिशोधी चेतना' मानकर डरे और बिदके रहते हैं। इस डर के कारण ही दलित सवाल के उठते ही सवर्ण मेधा बौखला जाती है। दूसरी बात, संवेदनशील और व्यापक अर्थ में प्रगतिशील सवर्ण इस बात से भी बौखलाये हुए रहते हैं कि जिस हिंदुत्ववादी राजनीतिक शक्ति के मनुष्य-विरोधी होने की बात उनके मन में गहरे जमी हुई रहती है उसी के साथ 'दलित राजनीति' के प्रतिनिधियों के द्वारा उन्हें जोड़ दिया जाता है। वे इस राजनीतिक शक्ति और चेतना से विजड़ित किये जाने की स्थिति से भी बहुत विचलित होते हैं। तीसरी बात, संवेदनशील सवर्ण के सामने अपने तथाकथित संस्कारों या कु-संस्कारों से साथ आंतरिक आत्म-संघर्ष (सामाजिक संघर्ष चल नहीं रहा और जो आंतरिक आत्म-संघर्ष सामाजिक-संषर्ष की सक्रियता में शीघ्रता से बदल नहीं जाता है, वह अ-क्रिय आंतरिक आत्म-संघर्ष स्वाभाविक रूप से अविश्वसनीय होता जाता है) की व्यावहारिक विश्वसनीयता बहाल रखने की चुनौती के अलावे एक बड़ी कठिनाई यह है कि दलितवादी दलितों की नजर में वे अपने सवर्ण होने के अर्थ को उसी तरह बदल नहीं पाते हैं, जिस तरह अपने दलित होने के अर्थ को हिंदुत्ववादी सवर्णों की नजर में दलित नहीं बदल पाते हैं। यह दुष्चक्र है। यानी अपने मूल्यांकन के लिए जिस आधार को नकारा जाता है, दूसरों के मूल्यांकन के लिए उसी आधार को दृढ़ता से स्वीकार कर लिया जाता है। इस दुष्चक्र को तोड़ना 'दलित राजनीति' की चुनौती और न तोड़ पाना समस्या है।

iv. सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व को समझना जरूरी है। अक्सर कहा जाता है कि 'घोड़ा को समझने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है'। इस रूपक के नव्य-न्याय का तर्क इतना संगत नहीं है कि इससे सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व की गुत्थी खुल जाये। इस नव्य-न्याय का तर्क सामने रखने के बाद शीघ्रता से नैय्यायिक लोग भावानुप्रवेश जैसे महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सूत्र का सहारा लेते हैं। यह भावनुप्रवेश क्या है? यही न कि जो हम नहीं हैं, मनोवैज्ञानिक रूप से वह होकर उसके जैसा अनुभव करना। इसके अतिरिक्त भावनुप्रवेश का क्या अर्थ हो सकता है? भावानुप्रवेश

के माध्यम से 'घोड़ा बनने के लिए तैयार रहना', 'घोड़ा' को समझने के अधिकार की बुनियादी शर्त है। न सिर्फ तैयार रहना, बल्कि अधिकतम संभाव्य स्तर तक 'घोड़ा' बनने में सक्षम और ईमानदार होना भी। 'घोड़ा' के दुख पर बात करेंगे और 'घोड़ा' बनना भी नहीं चाहेंगे! यह नहीं चलेगा। 'डि-क्लास' होने की जरूरत खत्म तो नहीं हो गई है! धूमिल ने झूठ थोड़े न कहा था कि लोहा का स्वाद लुहार और घोड़े, जिसके मुँह में लगाम होती है, एक ही नहीं होता है। दुखी तो सभी हैं। 'घोड़ा' भी और 'घुड़सवार' भी। लेकिन 'घोड़ा' और 'घुड़सवार' का दुख एक ही हो, यह कैसे हो सकता है? इसलिए दलित संदर्भ को समझने में 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' के मुद्दे पर नव्य-न्याय का तर्क असंगत है। 'दलित राजनीति' की समस्याओं को सिर्फ अवधारणाओं के आधार पर समझना मुश्किल है, इसके लिए सामाजिकताओं के अंदर सम्मान के अवसर की परित्यक्त मनोभूमि की पैमाइश से भी कुछ हद तक जरूरी है। स्वानुभूति के अभाव की प्रतिपूरक ही सहानुभूति हो सकती है, विस्थापक नहीं। कहना न होगा, सहानुभति वस्तुत: स्वानुभूति का ही विस्तार है, एवजी नहीं। 'जाके पैर न फटे बेवाई, वो क्या जाने पीर पराई', तो बाबा तुलसीदास ही कह गये हैं। यदि दलित-समाज को लगता है कि उनके दुख का उतना भी निदान मुख्यधारा की सहानुभूतिमूलक राजनीति से नहीं हुआ जितना कि जनतंत्र में सामान्यत: संभव हुआ करता है और इसलिए वे मुख्यधारा की राजनीति से अलग 'दलित राजनीति' की ओर बढ़ रहे हैं, तो इसे समझना होगा। आजादी के इतने दिनों के बाद भी दलितों की सामाजिकता के सवाल, हजारों वर्ष पुरानी गुत्थियों से प्राणरस ग्रहण कर रहे हैं, तो क्या कहा जाये! दुख को तर्क से व्याख्यायित किया जा सकता है लेकिन जरूरी नहीं कि वह व्याख्या संवेदना का भी हिस्सा बन ही जाये। असल में यह सवर्ण डर है जो बुद्धि और चेतना को कुतर्क के पथ पर भटकाता है। इस डर को पहचानने की जरूरत है। पहचानेंगे नहीं तो लड़ेंगे क्या? कौन पहचानेगा? यह काम 'दलित राजनीति' और 'वामपंथी राजनीति' दोनों को मिलकर करना होगा। 'दलित राजनीति' और 'वामपंथी राजनीति' दोनों के सामने एक दूसरे की संभावनाओं को समझते हुए अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर मिलने की पहल करने की गहरी चुनौती है।

v. दलितों के दुख को नहीं समझा गया तो ‘स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व’ को नव-साम्राज्यवाद के विस्तार की आकांक्षा से उपजी फासीवादी बर्बरता, जिसका एक सिरा पुरातन धर्म से जुड़ा है तो दूसरा सिरा नूतन पूँजी-बाजार से जुड़ा है, की चपेट में आने से बचाना मुश्किल है। वैसे भी, नाना ऐतिहासिक कारणों से वर्गीय आधार पर समूह बनने की पुष्ट संभावना के नहीं होने के कारण ही धर्म के आधार पर समूह बनता है और संप्रदायबोध को सामाजिक आधार प्रदान करता है। समाज इस अनुचित आधार पर बँटकर पहले से लहुलुहान है। दलित-चेतना के विश्वसनीय वर्गीय आधार की शीघ्र तलाश न की जा सकी तो भारतीय समाज के आंतरिक विभाजन की दरारों को पाटना तो दूर, उनकी फाट रोकना भी बहुत ही मुश्किल होगा। इस तलाश के लिए दलित दुख को महसूस करना होगा। इसके लिए किसी पूर्वनिर्धारित और कदाचित उससे भी अधिक तात्कालिक राजनीतिक लाइन से थोड़ा अलग होकर भी सोचने की जरूरत है।

vi. अभी की राजनीतिक लाइन से हटने का मतलब है संसदीय प्रक्रियाओं की तात्कालिक बाध्यताओं पर काबू पाते हुए दीर्घकालिक राजनीति के जोखिमों को उठाने की तैयारी करना। ‘विरोधाभासी जीवन’ की विसंगतियों को दूर करने, ‘स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व’ को हासिल करने के लिए ‘हिंदुत्व’ और ‘उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण’ से संघर्ष को एक साथ एवं सकारात्मक ढंग से चलाने के लिए ‘दलित राजनीति’ और ‘वामपंथी राजनीति’ को नई समझदारी और सहमेल की नई गुंजाइश विकसित करनी होगी। इस गुंजाइश का न बनना अपने-आप में समस्याओं की जड़ है। एक सामान्य भारतीय संस्कृति के विकास के लिए यह जरूरी है, क्योंकि, ‘यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासकि रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्त्विव कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है।.... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।’[23] जाहिर है जब ‘पूँजी

की सत्ता' अधिराष्ट्रीय हुई जा रही है, 'श्रम की सत्ता' को बचाने के लिए राष्ट्रीय सरोकारों को नये सिरे से टटोलना होगा तभी 'सही अंतर्राष्ट्रीयता', 'आंकाक्षित पर्यावरणीय भूमंडलीकरण' और 'विश्वमानवतावाद' की नवनैतिकता का विकास हो पायेगा। इसके लिए 'आत्म निर्णय का अधिकार' ही काफी नहीं है, 'आत्मान्वेषण का धैर्य', 'आत्मसंयोजन का साहस' और 'आत्म विस्तार का विवेक' भी चाहिए; और इन सब को नये सिरे से संगठित करने की इच्छा-क्रिया-शक्ति भी चाहिए। तभी फ़ैज को दुहराने का साहस करते हुए कोई कह सकेगा कि 'ऐ ख़ाक-नशीनों उठ बैठो, वो वक़्त क़रीब आ आ पहुँचा है/ जब तख़्त गिराये जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे/ अब टूट गिरेंगी ज़ंजीरें, अब ज़िन्दानो[24] की खैर नहीं/ जो दरिया झूम के उट्ठे हैं, तिनकों से न टाले जायेंगे'[25]। लोग जुटेंगे और जंजीरें टूटेंगीं। जंजीरें टूटती आई हैं, जंजीरें टूटेंगी और जरूर टूटेंगी।

---

[1] मानव विकास रिपोर्टः1996 (HDR-1996 : Growth as ameans to human development)
[2] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002) ý
[3] 'Interwoven' के अर्थ में
[4] भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रसिद्ध उक्ति
[5] एम के गाँधीः वर्णाश्रम धर्म, नवजीवन ट्रस्ट, 1926
[6] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[7] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[8] रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएः परिशिष्ट – 2: गोपति से भूपतिः राजकमल प्रकाशनः 5वीं आवृत्ति 2001
[9] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[10] रवींद्रनाथ ठाकुरः भारत में राषट्रीयता 1917: सामाजिक क्रांति के दस्तावेजः सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन 2004
[11] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[12] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)
[13] भीमराव आंबेदकरः संविधान सभा में दिये गये भाषण सेः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2:सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004
[14] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[15] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[16] भीमराव आंबेदकरः संविधान सभा, नवंबर 1949 में दिये गये भाषण सेः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2:सं. डॉ

शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004
[17] ’Reservation Cover’ के अर्थ में
[18] Huntington : Clashes of Civilization
[19]’Trans-Naionality’ के अर्थ में
[20] ’corresponding’ के अर्थ में
[21] मानव विकास रिपोर्ट 2002
[22] कँवल भारतीः दलित विमर्श की भूमिकाः पुनश्च – दलित और वामः कुछ जरूरी सवालः इतिहासबोध प्रकाशन, 2 परि. सं. 2004
[23] Dr. Babasaheb Ambedkar : "Revolution and Counter Revolution in Ancient India” Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)
[24] जेलखाना
[25] फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएँ : राजकमल पेपर बैक्स – 2003 : तराना



कबीर

यदिहरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकान्तपदावलीं
श्रृणु तदा जयदेवसरस्वतीम ।।[1]

- जयदेव



प्रफुल्ल कोलख्यान

एकै अषिर पीव का (ढाई आखर का प्रेम!) और विश्व

1.कबीर साहित्य पर विचार के पहले

i.कबीरदास ने बहुत ही आत्मीयता से जयदेव का स्मरण किया है (देखें 2.ii)। जयदेव ने अपने 'गीतगोबिंद' में 'हरिस्मरण' और 'विलास कला कुतूहल' दोनों ही प्रकार की अभिप्रेरणाओं से संचालित सामाजिकों को पाठ के आनंद के लिए आमंत्रित किया। कहाँ तो 'हरिस्मरण' और कहाँ तो 'कलाविलास'! दुनिया में शायद ही किसी कवि ने इतने आत्मविश्वास के साथ 'हरिस्मरण' और 'कलाविलास' को इस तरह से अविच्छेद्य रूप में प्रस्तुत करने का साहस किया हो। यह पूर्णत: जयदेव का व्यक्तिगत साहस नहीं है। इस साहस का स्रोत निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति के अपने वैशिष्ट्य में है। कबीर में भी व्यक्तिगत के साथ ही भरपूर सांस्कृतिक साहस का अक्षय भांडार है। खुले मन से यह स्वीकारना चाहिए कि 'हरिस्मरण' और 'विलास कला कुतूहल' में प्रवृत्तिगत अनिवार्य असंगति नहीं है।

ii.इतिहास तो वर्त्तमान की समझ को प्रभावित करता ही है, वर्त्तमान भी इतिहास की समझ को प्रभावित करता है। आज कबीर साहित्य का अध्ययन जिस प्रकार से किया जा सकता है, उस प्रकार से न तो कबीर के समय में संभव था और न श्याम सुंदर दास या हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में ही संभव था। ऐसा कुछ तो उनके समय की सीमा के कारण था और कुछ उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण भी था; तब से लेकर अब तक उनचास पवन बह चुका है, देश में भी और दुनिया में भी। कबीर साहित्य का 'तात्त्विक दृष्टि' से काफी अध्ययन हो चुका है। आज कबीर साहित्य में रुचि के कारण उनके 'तत्त्व विचार' में नहीं, उनके ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों में हैं।

2.पाँडे करसि न वाद विवादं

i.कबीरदास के समय में भारतीय समाज एक नये प्रकार के संक्रमण से गुजर रहा था। ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी संक्रमण इतिहास, वर्त्तमान और भविष्य के अंतर्विरोधों ये मुक्त नहीं होता है। इन अंतर्विरोधों के कारण

उभरकर सामने आनेवाले संश्लेषण और विश्लेषण की आख्याओं और व्याख्याओं में अंतर्विरोधों के बने रहने की भरपूर गुंजाइशें रहती हैं। निवेदन यह कि संश्लेषणों, विश्लेषणों, आख्याओं और व्याख्याओं के किसी एक प्रसंग को अंतिम मानने का हठ आलोचना के परिसर के बाहर की चीज है; धर्म, राजनीति, वैयक्तिक-सामुदायिक हितों के परिसरों में ऐसे हठों और पूर्वग्रहों का चाहे जो महत्त्व हो, आलोचना के लिए इनका परिणाम अनर्थकारी ही होता है। आलोचना का काम तो किसी भी दौर में संश्लेषण, विश्लेषण और व्याख्याओं के कारण उभरे अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की प्रतिज्ञा से अनिवार्यत: प्रतिबद्ध होता है। इस दृष्टि से, आलोचना के किसी भी सार्थक काम को अपने पूर्ववर्त्ती प्रयासों पर पैनी नजर बनाये रखकर भी हर बार शुरू से ही शुरू करना पड़ता है।
ii.कबीर के समय में राजनीति की सत्ता संरचना में तो इस संक्रमण से प्रारंभ होनेवाले परिवर्त्तन परिलक्षित हो ही रहे थे, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी एक नई हवा चल रही थी। इतिहास बताता है कि ''गुर प्रसादी जैदेव नामां, भगति के प्रेमी इन ही है जाना।'' - कबीर द्वारा बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के इन दोनों संतों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि उनका आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के अंत अथवा चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था।''[2] साथ ही इतिहास यह भी बताता है कि 'वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज-सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर धर्म-सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रतिबिंब उनके साहित्य में विद्यमान है।[3] कबीर ने इतनी आत्मीयता से जयदेव का स्मरण किया है तो निश्चित रूप से जयदेव की काव्य-भंगिमा को भी कबीर ने पसंद किया होगा। जयदेव की काव्य-भंगिमा की एक अनन्य प्रविधि है, 'हरिस्मरण' को 'विलास कला कुतूहल' के ब्याज से अभिव्यक्त करना। काव्य के संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द-शक्ति, व्यंजना, की भी लगभग यही प्रविधि है। कबीरदास के साहित्य में भी इस प्रविधि का भरपूर उपयोग हुआ है। कबीरदास का साहित्य 'मनुष्य-प्रेम' को 'भक्ति' के ब्याज से अभिव्यक्त करता है।

iii.इस बात को समझना होगा कि कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व प्रेम है। कबीर को 'सतगुरू' भी इसीलिए भाते हैं कि वे 'सत्त प्रेम' का प्याला भरते हैं, खुद पीते हैं और कबीर को भी पिलाते हैं। 'साधो, सतगुरू मोंहि भावै।/ सत्त प्रेम का भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै।'[4] इस अपार जगत में जिससे रहनि संभव हो वही 'प्रीतम' कबीर को 'प्यारा' है !'जिससे रहनि अपार जगत में, सो प्रीतम मुझे पियारा हो। / जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिं में करत पसारा हो।/ आप जरै औरनि को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।'[5] कबीर के प्रेम की जागतिकता पर और कुछ अलग से कहने की जरूरत है! 'देह' के महत्त्व को समझना जागतिकता के महत्त्व को समझना नहीं तो और क्या है? कबीर कहते हैं, 'पाँडे करसि न वाद विवादं, या देही बिना सबद न स्वादं।।'[6] मनुष्य के प्रति निर्विशिष्ट और अबाध प्रेम कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व है। कबीर के समय का बीज-तत्त्व, धर्म और ईश-विचार में निहित था। इसलिए, कबीर का मनुष्य-प्रेम, ईश्वर के आलंबन से भक्ति के परिसर में अभिव्यक्त हुआ है। यदि 'हरिस्मरण' के संदर्भ में 'कलाविलास' के लिए जगह बन सकती है तो 'हरिस्मरण' के संदर्भ में समाज-विकास और सामाजिक समानता की आकांक्षा के लिए जगह क्यों नहीं बन सकती है? बन सकती है। इसीलिए, कबीर ने ईश-विचार की चुनौती तो स्वीकारी, लेकिन साथ ही उन्होंने धर्म को गहरी चुनौती भी दी। उन्होंने धर्म और ईश-विचार दोनों को ही बदलकर रख दिया। कबीर के बाद हिंदी-समाज के संदर्भ में न तो धर्म और न ही ईश-विचार वही रह गया जो कबीर के पहले था (देखें 2.v)। 'प्रेम' मनुष्य की मूल वृत्ति है। इस प्रेम की प्रेरणा के कारण ही मनुष्य की समष्टि चेतना और व्यष्टि चेतना विकसित हुई है। इसी प्रेम का प्रकाश मनुष्य के सारे कार्य-व्यापारों में प्रतिभासित होता है। कबीर के विद्रोह, व्यष्टि-समष्टि चेतना, धर्म-सुधार, समाज-सुधार और भक्ति को उनके मनुष्य-प्रेम की उच्चतर-भूमि के संदर्भ में ही समझा जा सकता है; उनके प्रेम की उच्चतर भूमि पर अलग-अलग दिखनेवाले विद्रोह, व्यष्टि-समष्टि चेतना, धर्म-सुधार, समाज-सुधार और भक्ति के सारे तत्त्व एक हो जाते हैं।

मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं की उच्चतम, मनोरम और शील-शक्ति-सौंदर्य संपन्न मूल्यों एवं मनोभावों का मानवीकृत रूप प्रेम और ईश-विचार का विधान करता है। इसलिए, प्रस्तावित किया जा सकता है कि कबीर काव्य में ईश्वर के प्रति प्रेम वस्तुत: निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति प्रेम की ही पराकाष्ठा है। प्रेम-तत्त्व का भक्ति-काव्य पर सर्वाधिक प्रभाव रहा है। जितने कोणों और जितने संदर्भों से भक्ति-काव्य में प्रेम-विचार हुआ है, उतना किसी दूसरे काल-खंड में शायद ही कहीं और कभी हुआ हो।

iv.आजकल प्रेम के बहुत सारे संस्करण हैं बाजार में! वस्तुत:, 'प्रेम में मनुष्य की मानसिक स्थिति का सबसे सुंदर निदर्शन और प्रतिफलन उभर कर आता है। इस अवस्था में मनुष्य के लिए कुछ भी अ-देय नहीं रहता है। प्रेम में मनुष्य सबकुछ दे देना चाहता है। वह एक ऐसे दान योगी की तरह आचरण करता है जैसे संसार की सारी चीजें उसके लिए देय है। दान योगी अर्थात देकर जो रत्ती भर भी रिक्त नहीं होता, बल्कि अपने को भर लेता है, योग कर लेता है। लेकिन यह प्रेम है क्या? इसे समझना क्या इतना आसान है! इसके इतने रूप हैं, इन रूपों में इतने रंग हैं, इतनी तरह के विस्तार हैं, इतनी भंगिमाएँ हैं और इतने तरह के आकर्षण हैं कि बस इसे अहसास में ही पाया जा सकता है। गूँगे का गुड़! जाहिर है, बोले नहीं कि सब गुड़ गोबर। समझने पर आमादा हुए नहीं कि बात आपके हाथ से गई समझिये। संतों के यहाँ इसका एक रूप है तो भोगियों के यहाँ इसका बिल्कुल दूसरा रूप है। मानव जीवन का हर काम अपने-आप में प्रेम की माँग करता है। सामाजिकता के मूल में भी इसी प्रेम तत्त्व का ही कोई-न-कोई रूप सक्रिय हुआ करता है। यही प्रेम-तत्त्व किसी कर्म को मानवीय बनाता है। इसी के अभाव में कर्म यांत्रिक बन जाता है। यंत्र जीवन के लिए जरूरी होते हैं लेकिन जीवन में यांत्रिकता तो क्रूरता की नैहर हुआ करती है। इस समय जब बड़े-बड़े ज्ञानी लोग अपनी योजनाओं को मानवीय चेहरा प्रदान करने के लिए विकल हो रहे हैं तो दरअसल अपनी योजनाओं को इसी प्रेम तत्त्व से बना आवरण, प्रेम की चादर प्रदान करना चाहते हैं। कहते हैं कि प्रेम के वश में तो भगवान भी होते हैं, अन्यों की बिसात ही क्या! आज कल तो बहुत सारे प्रबंध पाठ और शास्त्र हैं, होटल मैनेजमेंट से ह्यूमेन मैनेजमेंट तक। किंतु संभवत:, दुनिया का सबसे पुराना प्रबंध प्रेम-प्रबंध ही है। प्रेम पोषण के लिए भी चाहिए और शोषण के लिए भी। प्रेम साधू को भी चाहिए और कामी को भी। दानी को भी चाहिए और डाकू को भी। लोभी को भी और संत को भी। आराध्य राम के प्रति अपनी भक्ति और अपनी प्रियता प्रतिभासित करने के लिए गोस्वामी तुलसी दासने कहा कि हे राम तुम मुझे उतने ही प्रिय हो जितना कि कामियों को नारी प्रिय होती है, लोभियों को दाम (पैसा) प्रिय होता है - 'कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।' तुलसी दास ने प्रीति को भय से जोड़ा तो कबीरदास ने जीवन के सबसे कठिन सबक के रूप में चुना। रहीम ने संबंध की संवेदना तंतु के रूप में समझा। प्रेम के बारे में कितना कुछ लिखा गया फिर भी जैसे सारा-का-सारा अभी लिखा जाना बाकी ही हो। प्रेम की चादर ज्यों कि त्यों धरी हुई है , बिल्कुल कोरी-की-कोरी ! लेकिन क्या प्रेम-तत्त्व के स्वरूप पर देश-काल-प्रसंग का कोई असर नहीं पड़ता? ऐसे प्रश्न हैं और हो सकते हैं लेकिन मुसीबत यह है कि शीश उतारे बिना कोई इस घर में घुस नहीं सकता और जब शीश ही उतार कर भूँई पर धर दिया तो इन प्रश्नों का उत्तर कोई ढूँढ़े ही कैसे? शायद, ढूढ़ने की जरूरत भी नहीं होती और प्रेमी लोग इसे ढूढ़ते भी नहीं हैं। प्रेम की इसी चिरंतन मुद्रा का लाभ उठाकर कुछ लोग प्रेम के नाम पर अपना धंधा भी फैला लेते हैं। तरह-तरह का कारोबार प्रेम के नाम पर उसकी ओट में चलता रहता है।'[7] 'अकथ कहाँणी प्रेम की, कछु कही न जाई। गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसुकाई।'[8] भक्तिकाल के साहित्य और कबीर को समझने के लिए आलोचना के सामने कठिन चुनौती यह है कि उसे शीश उतारकर हाथ में भी करना है और प्रेम को समझना भी है। 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ

आदि कहकर अपने को उन से अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं।'[9] यह कैसी ऐतिहासिक विडंबना है कि कबीर के संदर्भ में इस सत्य का थाह लग जाने के बवाजूद, महापंडित आलोचक 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु मानकर' अपने आलोचना के काम को आगे बढ़ाने के बदले किसी और राह पर निकल पड़ा! किसने कबीर के अध्ययन में कबीर काव्य के इस केंद्रीय वस्तु की उपेक्षा की! असल में कबीर के रास्ते पर चलने के लिए सिर्फ सत्य को थाह लेना ही पर्याप्त नहीं है, कबीर के प्रिय के प्रति अ-थाह प्रेम का होना भी जरूरी है। कबीर के प्रेम का घर सिर्फ ईश प्नेम का घर नहीं बल्कि, मानव-प्रेम का घर है;भक्ति की इस मनोभूमि पर ईश प्नेम और मानव-प्रेम एक दूसरे से अभिन्न है - कहियत भिन्न, न भिन्न। यह प्रेम खाला का घर नहीं है; 'कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं। सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहिं।।'[10] दुखद यह कि आचार्य कबीर के इस प्रेम घर में नहीं पैठ पाये! शीश उतारकर हाथ में लेना क्या इतना आसान होता है! यह तब और अधिक मुश्किल काम हो जाता है जब सिर पर पांडित्य और संस्कार का दुहरा बोझ भी लदा हुआ हो!

v. 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय नहीं हैं। लेकिन, दिक्कत यह है कि हिंदी आलोचना के मनोभाव में शुरू से ही 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय की तरह अंत:सक्रिय रहे हैं। इस अंत:सक्रियता के ऐतिहासिक आधार भी रहे हैं (देखें 1.ii)। हिंदी आलोचना को भक्ति काल के साहित्य के अध्ययन के क्रम में इस कठिन सवाल से जूझना अभी बाकी है कि क्या धर्म और भक्ति एक ही चीज है? वस्तुत:, 'भक्ति' 'धर्म' के परिसर में 'अंतर्धार्मिक' और 'धर्मातीत' अंतर्वस्तु का अंत:संयोजन कर 'धर्म' को पूरी तरह बदल देने का काम करती है! अगर ऐसा नहीं है तो 'धर्मों' के रहते हुए भी 'भक्ति' के सामाजिक उद्भव की ऐतिहासिक जरूरत की व्याख्या किस तरह की जा सकेगी (देखें 2.iii)! ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'धर्मों' में 'कर्मों' पर नहीं 'कर्मकांडों' पर जोर था, 'प्रेम' पर नहीं 'नेम' (नियम) पर जोर था। हिंदू धर्म में ईश्वर 'राजनारायण' है जबकि 'भक्ति' में ईश्वर 'प्रेमपरायण' है। 'भक्ति' का सामाजिक उद्भव निर्विशिष्ट ईश्वर और निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अगाध-अबाध और सकर्मक प्रेम की सकारात्मक अभिन्नता को साधने की ऐतिहासिक जरूरत से हुआ था। इस प्रेम के मूल स्वरूप को समझने से बहुत सारी गुत्थियाँ खुल सकती हैं। इतिहास गवाह है कि इस प्रेम-तत्त्व के कारण 'सभ्यताओं के संघात'[11] की क्रूर आशंकाएँ 'सभ्यताओं के अंतर्मिलन' की मधुर संभावनाओं में बदलती रही है। लेकिन यह प्रेम-तत्त्व इतना सहज नहीं है (देखें 2.iv)। सभ्यता के विकास में आनेवाले परिवर्त्तनों के संदर्भों को भी इस समझ से खोला जा सकता है। कबीरदास का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए। कबीरदास भक्त थे (देखें 3.viii), उनकी भक्ति के तात्त्विक स्वरूप पर काफी चर्चा हुई है, उनके रहस्य-बोध पर भी चर्चा हुई है, जरूरत है उनकी भक्ति-चतेना को उनके सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने की। प्रेम सकारात्मक अभिन्नता की ओर बढ़ने का मौलिक आधार है। नकारात्मक भिन्नता अंधकार है। प्रेम प्रकाश है। प्रेम के प्रभाव में नकारात्मक भिन्नता वैसे ही गायब हो जाती है, जैसे प्रकाश के प्रभाव में अंधकार गायब हो जाता है। 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि। सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।'[12] 'प्रेम गली' इतनी सँकरी होती है कि इसमें दो भिन्न के लिए जगह नहीं होती है। 'हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोई। बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।'[13] 'राम' और 'रहीम', 'करीम' और 'केशव' के अभिन्न माने जाने के आग्रह में निहित मूल बात यह है कि उनको माननेवाले लोग अभिन्न हैं। धर्म और ईश्वर की अभिन्नता का विचार असल में मनुष्य की अभिन्नता का विचार होने के कारण ही सार्थक होता है। मनुष्य का मनुष्य से ही, नहीं समस्त सचराचर से मनुष्य की अभिन्नता का विचार ही प्रेम है। इसलिए प्रेम में 'वे' और 'हम' की नहीं सिर्फ 'हम' की ही गुंजाइश बनती है। प्रेम सामाजिक समूहन की भिन्नताओं को अभिन्नताओं में बदलने का सबसे बड़ा आधार है। कबीरदास के साहित्य को इस प्रेम के संदर्भ में समझने की कोशिश की जा सकती है। कबीर की

पीड़ा यह है कि सकारात्मक अभिन्नता हासिल करने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट उलझानेवाले लोगों और विचारों (देखें 3.vi) की तरफ से खड़ी की जाती है; ऐसे लोगों से अभिन्नता कैसे हो सकती है ?

vi.ध्यान देने की बात यह है कि भक्ति साहित्य का 'प्रेम-तत्त्व' जीवन का अभिनव प्रसंग है। कहना न होगा कि ईश्वरीय-प्रेम अंतत: और अनिवार्यत: मानव-प्रेम ही होता है। 'सबार ऊपर मानुस सत्यो' चंडीदास की उक्ति जो आज बंगाल में लोक-उक्ति के रूप में प्रचलित है, पूरे संत साहित्य के मर्म को उद्भासित करती है। ईश्वरीय-प्रेम और मानव-प्रेम के बीच सूक्ष्म और अबाध भावांतरण [14] को ठीक से नहीं समझने पर न तो कबीर का आध्यात्म समझ में आ सकता है और न ही उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व की बात ही समझ में आ सकती है। बहुत ही विनम्रता से निवेदन किया जा सकता है कि कुछ आलोचकों ने कबीर के 'ईश्वरीय-प्रेम' अर्थात आध्यात्म-चेतना, को तो खूब सराहा लेकिन उनके 'मानव-प्रेम' अर्थात सामाजिक-चेतना की गंभीरता को न समझते हुए उसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की शब्दावली में 'फोकट का माल' माना तो कुछ आलोचकों ने कबीर की व्याख्या में आध्यात्म-चेतना को बाधक माना। कबीर के ही शब्दों में ही कहें तो, 'इन दोनों ने राह न पाई'! कबीर को 'कागद लेखी' के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता है;'सात समुंद को मसि और सारी धरती को कागद में बदल' दिये जाने पर भी यह संभव नहीं है! क्योंकि कबीर जिस 'हरि गुण' की बात करते हैं वह लिखा-लिखी से सीमित नहीं होकर सामाजिक आचरण तक विस्तीर्ण है। 'सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ। धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ॥'[15] कबीर का प्रेम 'दुलहा-दुलहिन' का मधुर अंतर्मिलन है, बारातियों का संघाती मजाक नहीं, 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात। / दुलहा दुलहिन मिलि गये, फिकी परी बरात।'[16] क्योंकि 'कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव। / आतम दृष्टि कहा लिखै, जीत देखे तित पीव॥'[17] धर्म (हिंदू) व्यक्ति की श्रेष्ठता को उसके जन्म के आधार पर तय करता है। धर्म वर्णव्यवस्था के आधार के सामाजिक अंत:प्रसार के लिए प्रयास करता है (देखें 3.vi)। तुलसीदास जब 'सील गुन हीन बिप्र' की पूजा का आग्रह करते हैं तो साहित्यिक, भक्त और संत की तरह नहीं 'धर्म-प्राण' की तरह आचरण करते हैं;'पूजा' वैसे भी 'भक्ति' की नहीं 'धर्म' की माँग होती है। जब साहित्य और भक्ति वेद के परिसर के बाहर की चीजें (देखें 3.ii) हैं तो वेद-व्यवस्था को पुष्ट करने में उनकी ऊर्जा के इस्तेमाल का क्या मतलब? इसलिए जब कबीर जन्म की नहीं कर्म की महत्ता पर जोर देते हैं तो उसके मर्म को भक्ति के मनुष्य-प्रेम के संदर्भ में समझा जा सकता है,'ऊँचे कुल क्या जनमियाँ जे करणी ऊँच न होइ। सोवन कलस सुरे भर्या, साँधू निंद्या सोइ॥'[18] इसलिए कबीर कहते हैं, 'जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।/ मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥'[19] जो 'तलवार' की नहीं 'म्यान' का बखान करते हैं, वे झूठ बोलते हैं, 'पंडित बाद बदंते झूठा।/ राम कह्यां दुनिया गति पाबै, षाँड कह्याँ मुख मीठा॥/ पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।/ भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई॥'[20] भक्ति के परिसर में पिछले दरबाजे से 'धर्म' की सक्रियता को लक्षित कर कबीर ने सचेत किया है कि 'संत न छाढ़ै संतई, जे कोटिक मिलै असंत। चँदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत॥'[21] क्योंकि, 'कथणीं कथी तो क्या भया, जे करणीं नाँ ठहराइ। कालबूत के कोट ज्यूँ, देषतहीं ढहि जाइ॥'[22] इसीलिए कबीर पुस्तक बहा देने की बात करते हैं, 'कबिरा पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ। बाँवन आषिर साधि करि, रै ममैं चित लाइ॥'[23] 'कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ़्या संसार। पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूँ करि करै पुकार॥'[24] 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ। एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ॥'[25] 'मैं जान्यूँ पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग। राँम नाँम सूँ प्रीति करि, भल भल नीदौं लोग॥'[26] ध्यान दिया जाना चाहिए कि कबीर पढ़ने का विरोध नहीं करते हैं, वे पोथी की जगह प्रेम को पढ़े जाने को वरीयता देते हैं। प्रेम को पढ़ने में बाधक पोथी को बहाने की बात करते हैं।

3.आज के समय में कबीर

i.साहित्य मनुष्य की सामाजिकता का अनिवार्य हिस्सा है। इसीलिए मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास साहित्य के विकास का भी इतिहास है। कबीर का साहित्य हमारे इतिहास का हिस्सा है। इतिहास को देखने से पता चलता है कि हिंदी समाज में हमेशा एक तरह की अंदरुनी हल-चल बनी रहती है; एक ऐसी अंतर्धारा जिसमें आंतरिक तीव्रता तो बहुत होती है लेकिन सतह पर उसका प्रभाव बहुत सहज ही लक्षित नहीं हो पाता है। आज भी हिंदी समाज में झंझावातों का दौर चल रहा है। ऐसे कठिन समय में, निश्चय ही कबीर का साहित्य हमारा पथप्रदर्शक बन सकता है। लेकिन, इसमें कुछ सावधानी बरतने की भी जरूरत है। सावधानी यह कि 'हमारा' के आशय को बिल्कुल साफ और निर्भ्रांत रूप से समझ लेना होगा। यह काम ऊपर से जितना आसान और सहज दिखता है, उतना आसान और सहज है नहीं (देखें 4.i)।
ii.अकारण नहीं है कि बाल्मीकि से इस महाद्वीप में कविता का प्रारंभ होता है! भाषिक स्तर पर देखें तो वैदिक संस्कृत की जगह लौकिक संस्कृत का व्यवहार प्रारंभ होता है। इस आरंभ में 'भाषा का युद्ध' लक्षित किया जाना चाहिए। रघुवीर सहाय कहते हैं, 'वही लड़ेगा अब भाषा का युद्ध / जो सिर्फ अपनी भाषा में बोलेगा/ मालिक की भाषा का एक शब्द भी नहीं/ चाहे वह शास्त्रार्थ न करे जीतेगा/ बल्कि वह शास्त्रार्थ नहीं करेगा'[27]। रघुवीर सहाय के इस काव्यानुभव के पीछे सक्रिय मान्यता का सूत्र संत-साहित्य की सामाजिक प्रेरणाओं से सीधे जुड़ता है। कबीर से पहले 'लोक', वेद (अर्थात शास्त्र के पीछे-पीछे आँख मूँदकर चल रहा था। गुरू ने इस अंधानुकरण का 'ज्ञान' कराया और लोक-अनुभव (दीपक) की उपलब्धि हुई। शास्त्र के शक्ति-स्रोत (तेल, बाती) को हासिल किया और फिर शास्त्र की परिधि (हट्ट) के भीतर नहीं आने का संकल्प किया। 'पीछे लागि जाइ था, लोक वेद के साथि। / आगे थैं सतगुरू मिल्या, दीपक दीया हाथि।।/ दीपक दीया तेल भरि, बाती देई अघट्ट।/ पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट।।'[28] बार-बार विचारणीय है कि धर्म तो पहले से सक्रिय था ही फिर भक्ति की जरूरत क्या थी! इस जरूरत के संदर्भ में ही संतों के लोकधर्म के महत्त्व को समझा जा सकता है।
iii.संतों के लोकधर्म ने धर्म के स्वरूप को ही बदल दिया। शास्त्र जिस तरह से धर्म का विधान करता है, संतों का लोकधर्म विधान के उस परिसर से बाहर की चीज है। धर्म और सामंतवाद के गहरे रिश्ते पर शायद ही किसी को संदेह हो, लेकिन संतों का लोकधर्म सामंतवाद से सीधे टकराता है। धर्म और भक्ति में टकराव का यह ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आधार और परिप्रेक्ष्य है। 'संतों के लोकधर्म का महत्त्व क्या है? संतों का लोकधर्म सामंती व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता है वरन् उसे कमजोर करता है। सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। वर्ग-युक्त समाज में बहुधा सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप ले लेते हैं।'[29] हालाँकि, यह उत्साही और कुछ अधिक उम्मीद करनेवाली काल्पनिक स्थिति है, फिर भी सोचा जा सकता है कि धर्म पर से पुरोहितों का इजारा तोड़ने के साथ ही यदि धरती पर से सामंतों के अधिकार को भी समाप्त करने की भी कोशिश की गई होती तो भारत का विकास किस तरह से हुआ होता! यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि मनुष्य के प्रति अकुंठ प्रेम भक्ति के मूल में है। भक्ति के मूल में धार्मिक शोषण, जो सामाजिक और आर्थिक-शोषण का आधार प्रदान करता है, का जबर्दस्त प्रतिरोध है। धरती पर से सामंतों के अधिकार को भी समाप्त करने की कोशिश की बात उत्साही और कुछ अधिक ही उम्मीद करनेवाली काल्पनिक स्थिति भले हो, लेकिन क्या बिल्कुल निराधार है! यहाँ, 'इस बात को भुला देना कि मानव जाति पर लदा धर्म का जुआ समाज के अंतर्गत लदे आर्थिक जुए का ही प्रतिविंब और परिणाम है, पूँजीवादी संकीर्णता

होगी।'[30] इसलिए 'पूँजीवादी संकीर्णता' से ऊपर उठकर देखने पर, यह मानने में अधिक दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि 'मानव जाति पर लदे धर्म के जुए' में किसी भी तरह के बदलाव की माँग और प्रयास के आशय का स्वाभाविक प्रसार 'आर्थिक जुए' में बदलाव की माँग और प्रयास को भी अंतर्ध्वनित करता है (देखें 2.i)। धर्म का 'ईश्वर' कहता है कि उसका ठिकाना मसजिद, काबा, कैलास है, भक्ति का 'ईश्वर' कहता है,'मोकों कहाँ ढूढ़े रे बंदे, मैं तो तेरे पास में। / ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।/ ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।'[31] जाहिर है, इस मान्यता से 'धर्म परायणता' और 'ईश्वर' की ओट में अपना उल्लू सीधा कर रहे हिंदू-मुस्लिम पुरोहित-समूह को जोरदार धक्का लगना स्वाभाविक था (देखें 5.iii और 5.v)। जिसे धक्का लगेगा, वह मारने तो दौड़ेगा ही, 'साधो, देखो जग बोराना।/ साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।/ हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।' भक्ति के 'ईश्वर' की ठकुराई वहाँ है, 'जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं' है। 'तुरक मसीति देहुरै हिंदू, दहूँठा राँम खुदाई। जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं, तहाँ काकी ठकुराई।।'[32] 'धर्म' और 'भक्ति' के टकराव को सगुण और निर्गुण के मतवैभिन्न्य के रूप में भी चिह्नित किया जा सकता है। सगुण और निर्गुण में अंतर यह भी है कि सगुण-भक्ति अपने अदृश्य 'ईश्वर' को तो सहज ही 'दृश्य' कर लेने का दावा करती है, इसके लिए एक-से-बढ़कर-एक तर्क भी देती है, लेकिन अपने समय में दृश्य 'चाक' और 'चक्की' को उसी तर्क-शक्ति के बल पर 'अदृश्य' कर देती है! कबीर तो देखते हैं, तुलसीदास क्यों नहीं 'चाक और चक्की' देख पाते हैं! आज के समय में भारतीय जीवन संदर्भों को धर्म के कोलाहल और सांप्रदायिकता के हलाहल का शिकार बनाया जा रहा है, इसके मूल में 'धर्म' और 'भक्ति' के टकराव को भी चिह्नित किया जाना जरूरी है। 'धर्म' सगुण के माध्यम से पुरोहितवाद को 'भक्ति' में संस्थापित करना चाहता है, जबकि 'भक्ति' निर्गुण के माध्यम से 'धर्म' में राज कर रहे पुरोहितवाद को वहाँ से बाहर कर देना चाहता है। ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'निर्गुण' और 'सगुण' का विवाद 'धर्म' और 'भक्ति' के परिसर में पुरोहितवाद के प्रति रवैये के कारण उत्पन्न हुआ। कहना न होगा कि पुरोहितवाद, सामंतवाद का धार्मिक रूप है और वर्णव्यवस्था सामंतवाद का सामाजिक रूप है। ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में माना जाना चाहिए कि सामंतवाद से सीधी लड़ाई के लिए ही,'भक्ति' पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था से लड़ते हुए निर्विशिष्ट ईश-प्रेम के आवरण में निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अपने अगाध एवं अबाध प्रेम के साथ विकसित हुई। 'भक्ति' के मर्म में कोरी भावुकता नहीं क्रूर सामाजिक यथार्थ को मानवीय बनाने की अकुंठ सांस्कृतिक आकांक्षा है। (देखें 7.iv)।

iv.कठिन समय में, अपने पुरखों को याद किये जाने के क्रम में एक तरह की स्वाभाविक भावुकता हमारे विवेक को आच्छादित कर लिया करती है। कबीर साहित्य का सारांश विवेक के इस भावुक आच्छादन का अनुमोदन नहीं करता है। जाहिर है, कबीर साहित्य के अध्ययन के प्रयोजन पर भावुकता का बोझ जितना कम पड़े उतना ही अच्छा है। भावुकता के इस खतरे का गहरा संबंध 'वर्ण-व्यवस्था' के कारण व्युत्पन्न हिंदी समाज की व्यापक दुर्दशा और उसके भाव-बोध से है। भावुक होकर धर्मवीर कहते हैं, 'मेरे मत में, कबीर के गुरू मक्खी और मच्छर हो सकते थे, कबीर के गुरू कुत्ते ओर बिल्ली हो सकते थे लेकिन रामानंद ब्राह्मण उनके गुरू कभी नहीं हो सकते थे। रामानंद को कबीर का गुरू बताने में इतिहास के साथ साजिश हुई है। यह ब्राह्मणों द्वारा साहित्य में अपना वर्चस्व बनाए रखने की कोशिश है। यह वैसी ही कोशिश है जैसी आजकल आंबेडकर और गाँधी के संबंध को लेकर की जा रही है। यदि दलित लोग डॉ. आंबेडकर के बचाव में ढंग से नहीं लड़ सके तो कुछ दिन बाद हिंदू विद्वान यह सिद्ध कर देंगे कि डॉ. आंबेडकर गांधी के सबसे प्रिय शिष्य थे।'[33] 'रामानंद ब्राह्मण उनके गुरू कभी नहीं हो सकते थे' यह डॉ. धर्मवीर का भावुक अनुमान है। इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि कबीर के गुरू कौन थे! यह तो तुलसीदास भी मानते थे कि 'बिरंचि सम' गरू के मिलने पर भी 'मूरख हृदय' चेतता नहीं है! क्या तुलसीदास ने कबीर को लक्षित कर यह बात कही थी! हजारीप्रसाद द्विवेदी तो कबीर को साधना के क्षेत्र में 'युग गुरू' मानते

हैं। 'युग गुरू' (देखें 4.vi) का गुरू कौन हो सकता है! सच बात तो यह है कि कबीर 'आत्तदीप' होने की परंपरा के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। 'गुरू' 'गोबिंद' की पहचान करवा सकता है, लेकिन 'गुरू' की पहचान तो खुद ही करनी पड़ती है! कबीर से बेहतर इस बात को और कौन जान सकता था! सभी ब्राह्मणों को 'ब्राह्मणवाद' के खाते में डाल देना न तो इतिहास के साथ न्याय है और न वर्त्तमान के साथ ही न्याय है। आंबेडकर भी इस बात को मानते थे कि 'ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है (टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट)।'[34] जिस प्रकार 'ब्राह्मणवाद' अन्य जातियों में (और उस जाति के कुछ सदस्यों में भी) घुसा हुआ हो सकता है, उसी प्रकार कुछ ब्राह्मण भी 'ब्राह्मणवाद' की परिधि के बाहर हो ही सकते हैं! लेकिन भावुक मन में इस फर्क के तर्क के लिए जगह ही कहाँ बचती है!

v.यह सच है कि ब्राह्मणवाद और पुरोहितवाद ने भयंकर साजिशें की है। इन साजिशों के प्रमाण विभिन्न शास्त्रों में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' को देखा जा सकता है (देखें 5.v)। लेकिन क्या इस तरह की साजिशों का संबंध सिर्फ 'वर्णवादी व्यवस्था' में ही होती है? इन साजिशों का राजनीति और सत्ता से कैसा लगाव होता है इसे भुला देना क्या उचित होगा! ध्यान में रखना होगा कि 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' का जन्म मनुष्य की नैसर्गिक धार्मिक भावनाओं के राजनीतिक दुरुपयोग की आकांक्षाओं से हुआ है। इसलिए, 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' धर्म के आधार पर राजनीति करनेवालों के अनुकूल ठहरती है। इस अर्थ में, 'ब्राह्मणवादी व्यवस्था' की सारभूत विशेषताओं का विनियोग बदले हुए नाम-रूप के साथ हर व्यवस्था में सक्रिय रहती है। इसलिए, 'बिल्कुल यही दृष्टिकोण प्लेटो के ''रिपब्लिक'' में भी देखा जा सकता है। उसमें झूठा और मनगढ़ंत प्रचार किया गया है कि ईश्वर ने दार्शनिकों में सोना, योद्धाओं में चाँदी, तथा किसानों और कारीगरों में पीतल और लोहा रखा। प्लेटो ने महसूस किया कि इस कल्पित कथा को एक ही पीढ़ी में जनमानस में स्त्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता लेकिन, दूसरी, तीसरी और उसके बाद की पीढ़ियों में लोगों का विश्वास इस पर जमाया जा सकता है। काल की दृष्टि से तो नहीं, लेकिन स्थान की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी प्लेटो और कौटिल्य दोनों के विचार में अपनी सत्ता की रक्षा और विस्तार के लिए शासक वर्ग को अंध विश्वास को प्रश्रय देना चाहिए। रोम के राजनीतिज्ञों की दृष्टि भी ऐसी ही थी। वहाँ के पुरोहित मंडलों ने अपना प्रभाव खूब बढ़ा लिया था, फिर भी उन्होंने और उनमें से भी खास तौर से उच्च पदों पर आसीन लोगों ने इस बात को कभी नहीं भुलाया कि उनका कर्तव्य समादेश देना नहीं, अपितु दक्षतापूर्ण परामर्श देना है। और रोमन राजनीतिज्ञ यदि इस प्रकार के स्पष्ट प्रपंचों को चुपचाप स्वीकार लेते थे वह धर्म का विचार करके नही बल्कि अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए।'[35] आज के समय में 'ब्राह्मणवाद' और 'पूँजीवाद' के संश्रय को भी इस संदर्भ में समझा जा सकता है। डॉ. आंबेडकर ने इस बात को समझते हुए ही कहा था कि 'मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद।'[36] संतों का लोकधर्म का महत्त्व यह है कि वह अपने समय में ब्राह्मणवाद और सामंतवाद दोनों से लड़ रहा था। इससे प्रेरणा लेकर ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद तीनों से लड़ने की जरूरत आज भी है।

vi.इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि हिंदी समाज अपनी सामाजिक संरचना में भीतर से आत्मविभक्त समाज रहा है। धर्म सिर्फ पारलौकिक, आध्यात्मिक या परा-जागतिक आकांक्षाओं तक ही सीमित नहीं रहा है बल्कि दैनंदिन जीवन-यापन की स्थितियों, सामाजिक संरचनाओं एवं व्यक्ति की हैसियत एवं सामाजिक आचरण को भी प्रभावित करता रहा है। यह ध्यान देने की बात है कि कदाचित हिंदू धर्म की सामाजिक संरचना का ही प्रभाव रहा होगा जिसके चलते इस्लाम के माननेवालों की सामाजिक संरचना में भी जाति-पाँति का भयानक प्रवेश

हुआ। इस स्थिति को समझना होगा कि क्यों कबीर 'ना-हिंदू, ना-मुसलमान' की स्थिति तो अर्जित कर पाते हैं, लेकिन अपने को 'जुलाहा' बताने से परहेज नहीं करते हैं। कबीर की महानता इस बात में भी है कि वे इसके विषप्रभाव में नहीं पड़ते हैं। कबीर की सांस्कृतिक उद्यमशीलता में भिन्नतावादी सांस्कृतिक विषदंतों को तोड़ने का अभूतपूर्व सांस्कृतिक-सामाजिक साहस है।

vii.यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कबीर में 'समन्वय-चेतना' नहीं थी। कबीर का समन्वय निश्चित रूप से तुलसीदास से भिन्न और अधिक व्यापक भी था। तुलसीदास के समन्वय में हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों और उपासना पद्धति में, दार्शनिक मतों में, वैचारिक समन्वय का वर्ण-सापेक्ष पक्ष अंतर्निहित है। कबीरदास के समन्वय का धरातल तुलसीदास के समन्वय से बड़ा है। कबीर 'निर्विशिष्ट मनुष्यता' के विभाजन के थोथे आधार को चुनौती देते हैं। कहना न होगा कि 'समन्वय' विचार का सकारात्मक पक्ष होता है। तुलसीदास का समन्वय 'निषेध' को समाहित कर आध्यात्मिक एकता की बात करता है। कबीरदास का समन्वय 'निषेध का निषेध' करते हुए सामाजिक एकता की बात पर बल देता है। लेकिन, 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।/ मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की देखी।/ मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।'[37]

viii.कहना न होगा कि कबीर के माध्यम से विकसित हो रहे भक्ति-मार्ग की दिशा धर्म की दिशा से अलग थी। अलग ही नहीं अपने सारतत्त्व में उस धर्म दिशा के विपरीत और प्रतिकूल भी थी। यह सच है कि भक्ति के सामाजिक परिप्रेक्ष्य ने धर्म को भीतर से बदलने का काम किया (देखें 2.iii)। यह भी सच है कि कबीर ने धर्म को बहुत मायने में नया बना दिया। लेकिन क्या कबीर ने किसी नये धर्म की बात सामने रखी थी? इस प्रश्न पर विचार करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं, 'इस देश का दुर्भाग्य यह रहा है कि यहाँ कभी दलित की अलग ओर स्वतंत्र पहचान नहीं बनने दी गई। इस दृष्टि से आगे बढ़ने पर पता चलता है कि दलित को सबसे पहला धोखा और नुकसान बुद्ध के धर्म की स्थापना के रूप में हुआ था। बुद्ध के समय में पृथक धर्म की सब से ज्यादा जरूरत दलित को थी लेकिन उसका नेतृत्व बुद्ध उड़ंग कर ले गए। बुद्ध के बाद पता चलता है कि दलितों को कबीर और रैदास के समय में यह जरूरत फिर जोरों से महसूस की गई। रैदास और कबीर के 'न हिंदू, न मुसलमान' कहने का मतलब यही था कि वे पृथक दलित धर्म के हिमायती और संस्थापक थे। लेकिन अकबर के रूप में एक बादशाह ने 'दीन-ए-इलाही' का धर्म खड़ा कर के उस धर्म को हड़पना चाहा जो अंत में सिक्ख धर्म के द्वारा निगल लिया गया।'[38] किसी भावुकता के कारण ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया की टेढ़ी-मेढ़ी गति-मति आँख से ओझल हो जाये तो इसी तरह के उद्गार प्रकट होते हैं! दलित धर्म का नेतृत्व बुद्ध 'उड़ंग' कर ले गये, क्या मतलब? क्या बुद्ध किसी साजिश में शामिल थे? ऐसा तो किसी ने भी नहीं कहा था! शायद, कबीर ने भी नहीं और डॉ. आंबेडकर ने भी नहीं। डॉ. धर्मवीर की दिक्कत यह है कि वे अपने भावातिरेक में कबीर से भी 'बड़े कबीर' की भाव-मुद्रा में पहुँच गये प्रतीत होते हैं।

ix.इसी भावातिरेक में वे तुलसी और सूर को 'छोटे जीव' घोषित करते हैं। 'हिंदी साहित्य के अध्ययन के नाम पर कबीर की बहुत छोटे या भिन्न लोगों से तुलना की जा रही है जो एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। यह संभव इसलिए हुआ है क्योंकि कबीर को मात्र एक भक्त मान लिया गया है। चूँकि तुलसी और सूर भक्त हैं इसलिए कबीर के मुकाबले में उन्हें खड़ा कर दिया जाता है। इस तुलना में यह बात एकदम भुला दी जाती है कि कबीर तुलसी और सूर की तरह भक्त नहीं हैं। किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि कबीर की तुलना तुलसी और सूर से नहीं की जानी चाहिए क्योंकि कबीर की टक्कर तुलसी और सूर के आराध्य देवों राम और कृष्ण से है। इसलिए, इस दृष्टि को ले कर

कबीर की तुलसी और सूर से कोई समानता नहीं है। तुलसी और कबीर भक्त हैं जबकि इस मामले में कबीर अपने आत्म-ज्ञान के कारण भगवान होने की स्थिति पर पहुँचे हुए हैं। वास्तव में कबीर के सामने तुलसी और सूर बहुत छोटे जीव हैं। कहने का मतलब यह कि दलितों के भगवान की तुलना द्विजों के भक्तों से नहीं की जा सकती। यदि कबीर की तुलना की जानी आवश्यक हो तो उनकी तुलना बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद, राम और कृष्ण से की जानी चाहिए न कि इनके शिष्यों या भक्तों से।'[39] भक्त की भूमिका में कबीर का व्यक्तित्व बहुत बड़ा है, उनकी सामाजिक और ऐतिहासिक भूमिका भी बहुत बड़ी है। 'भक्त' के बदले 'भगवान' बनाने से कबीर के अवदान का आधार ही तहस-नहस हो जायेगा। आधुनिक समय के कुछ भगवानों को छोड़ भी दें तो भी 'तैंतीस कोटि' (कोटि का अर्थ प्रकार है करोड़ नहीं।) भगवान तो इनके पहले हो ही गये हैं। इस ऐतिहासिक सचाई को समझना चाहिए कि जिस लोक-धर्म का सामाजिक आधार कबीर के माध्यम से तैयार हो रहा था उस लोक-धर्म को 'भगवान' बनने-बनाने के मनोभवों के कारण बहुत नुकसान हुआ है। 'कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत निकल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास, आदि जितने प्रमुख संत हुए, सब ने कबीर का अनुकरण किया अपना अपना अलग मत चलाया।... सबने नाम, शब्द, सद्गुरू आदि की महिमा गाई है और मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जातिपाँति मिटाने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्त्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं और उनके मतों में भी कर्मकांड घुस गया है।'[40]

x.तुलसीदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य की सामाजिक-समता की पैरवी नहीं करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-विषमता का, प्रकारांतर से और कभी-कभी सीधे भी, औचित्य प्रतिपादित करता है। कबीरदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता के साथ ही मनुष्य की सामाजिक-समता की भी पैरवी करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-समता औचित्य प्रतिपादन पूरी तार्किकता के साथ करता है। वस्तुत: धार्मिक आधार पर समता और सामाजिक आधार पर विषमता से एक विरोधाभासी जीवन-स्थितियों का जन्म होता है। इसके साथ ही, संवैधानिक स्तर पर समानता और आर्थिक-सामाजिक स्तर पर असमानता के स्वीकार के असर को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। डॉ. आंबेडकर बहुत ही सावधानी के साथ, आजादी और संविधान के हासिल होने के बाद उत्पन्न होनेवाली विरोधाभासी जीवन-स्थितियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णत: अभाव है। इनमें से एक समानता है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे भारत का समाज वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर आधारित है जिसका अर्थ है, कुछ लोगों के लिए उत्थान एवं अन्यों की अवनति। आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि समाज में कुछ लोगों के पास अथाह संपत्ति है जबकि दूसरी ओर असंख्य लोग घोर दरिद्रता के शिकार हैं। 26 जनवरी, 1950 को हमलोग एक विरोधाभासी जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारे बीच समानता होगी। राजनीति में हम एक-व्यक्ति एक-मत एवं एक-मत एक-मूल्य के सिद्धांत को स्वीकृति देंगे। पर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में वर्त्तमान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के चलते एक-व्यक्ति एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना जारी रखेंगे। हम कब तक इस विरोधाभासी जीवन को जीते रहेंगे, अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे ?'[41] धर्म की दृष्टि में समानता का समर्थन और सामाजिक हैसियत में अ-समानता स्वीकार भी इसी तरह का विरोध रचता है। (देखें 3.iii) कबीर ने अपने समय में विरोघाभासी नहीं, विरोधी जीवन-स्थितियों की विसंगतियों को बहुत ही तीव्रता के साथ महसूस किया था (देखें 2.ii)।

4.हम कौन? किसके कबीर!

i.यहाँ, 'हमारा' का आशय बिल्कुल साफ तौर पर समझ और मान लेना होगा। यह काम ऊपर से जितना आसान दिखता है, वस्तुत: उतना आसान है नहीं। बल्कि काफी कठिन काम है। आज जातीय अस्मिताओं और वर्ग के विरुद्ध समुदाय को खड़े करने की बौद्धिक कोशिश हो रही है; 'हम' और 'वे' के नये आधार बनाये जा रहे हैं। इसलिए 'हम' के आशय को साफ कर लेना बहुत जरूरी है। इस 'हम' में वे सभी लोग शामिल हैं जो प्रत्येक स्तर पर समतामूलक समाज के आकांक्षी हैं। वे सभी लोग शामिल हैं जिनकी आँखों में सामाजिक 'अभिन्नताओं' को हासिल करने का सपना जिंदा है। यह ध्यान में रखना होगा कि 'सकारात्मक अभिन्नता' का विचार 'बहुलता' का विरोधी विचार नहीं है। कबीर के समय को भी ध्यान में रखना होगा। संत-साहित्य में धर्म के उपादान का उपयोग अवश्य है लेकिन उसका धर्म-बोध प्रचलित धर्म-बोध को चुनौती देता है। वह शास्त्र को चुनौती देता है। वह शास्त्र-धर्म को नहीं, लोकधर्म को अपनाता है। यह ध्यान देने की बात है कि शस्त्र स्थापित सत्ता को शक्ति का आधार प्रदान करता है और शास्त्र स्थापित सत्ता को विचार का आधार प्रदान करता है। स्थापित सत्ताओं में मनुष्य के बहुविध शोषण की प्रवृत्ति होती है। सत्ता में शोषण की यही प्रवृत्ति उसे भ्रष्ट करती है। इसलिए यह मान्यता विकसित हुई कि पूर्ण सत्ता पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है, अर्थात पूर्ण शोषण का आधार रचती है। शोषण से मुक्ति के लिए सबसे पहले सत्ता के वैचारिक आधार को चुनौती देना जरूरी होता है। शास्त्र के वैचारिक आधार को चुनौती देना, शास्त्र के सैद्धांतिक अनुशासन से बाहर निकलने की प्रेरणा बनता है। कविता अपने स्वभाव से ही शास्त्र को और इसलिए स्थापित सत्ता के वैचारिक आधार को चुनौती देती रही है। कविता का जन्म ही 'वेद' की परिधि से बाहर हुआ है। इसे वेद से कम महत्त्व का नहीं माना गया, इसकी मान्यता 'पंचम वेद' के रूप में रही; 'न वेद व्यवहारोयं संश्राव्य: शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सावणार्णिकम।'[42]

ii.पुरखों को याद करते समय विरासत की छीना-झपटी सामने आ जाती है। कहना न होगा कि चूल्हा के बँट जाने से विरासत का झगड़ा काफी उलझ जाता है। कबीर चूल्हा के बाँटे जाने के खिलाफ संघर्षशील थे। संघर्षशील इसलिए भी थे कि उनके समय में भी चूल्हा बँटा हुआ था; विरासत की छीना-झपटी भी उसी समय शुरू हो गई थी। आज से छ: सौ साल पहले की दुनिया आज से बहुत भिन्न थी। इन छ: सौ सालों में दुनिया बहुत बदली है। इसके बावजूद भारतीय जीवन का एक सिरा आज भी वहीं फँसा हुआ है। इस फाँस को समझना होगा। आज के समय में कबीर को फिर से पढ़े जाने की जरूरत है।

iii.कबीर साहित्य में अस्मिता की भी जबर्दस्त छटपटाहट है। 'कबीर ने ही दलित पहचान का बीजवपन किया। पहली बार दलित अपनी लड़ाई खुद लड़ रहे थे। कबीर ही नहीं, सभी संत कवि दलित समुदाय से आये थे। वे कुछ सोचना, अनुभव करना और कहना शुरू कर चुके थे, जो दरअसल उनकी आत्मपहचान की खोज के चिह्न थे। उनकी आवाज की गरमाहट उनकी आर्थिक जिंदगी में आई गतिशीलता ओर उस जमाने की टेक्नोलॉजी में आये विकास का नतीजा थी। सदियो से दबाए-कुचले लोगों में एक अद्भुत स्वाभिमान आ रहा था।'[43] कबीर के अस्मिता-बोध को समझना होगा। कबीर जाति-पाँति के विरोधी और निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति आग्रहशील थे। कबीर देख पा रहे थे कि वर्ण-व्यवस्था के आधार पर किया जानेवाला व्यवहार -- चाहे वह व्यवहार प्रेममूलक हो या घृणामूलक हो -- वर्ण-व्यवस्था की स्वकृति को ही पुष्ट करता है। हम नहीं देख पा रहे हैं तो यह हमारी समस्या है। लेकिन क्या, कबीर को दलित संदर्भों, धार्मिक संदर्भों, संप्रदाय संदर्भों, आदि विच्छिन्न एवं खंडित आयामों के साथ ठीक से समझा जा सकेगा? शायद नहीं! लेकिन हमारी अपनी समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के कारण कबीर को खंडित रूप से अपनाना हमारे लिए अधिक सुविधाजनक होता है। कबीर सुविधा के संत नहीं हैं। इसलिए, जिन्हें कबीर के अनुभवों से सीखना है, उन्हें अ-सुविधा उठाने के लिए भी अपने को तैयार करना चाहिए।

ऐतिहासिक रूप से देखें तो सभ्यता के उदय से ही अस्मिता की तलाश मनुष्य को रही है। अस्मिता का द्वंद्व सभ्यता में गहरे सक्रिय रहा करता है और इसके कारण सामाजिकताएँ भी बँटती हैं। इस बँटवारे का नतीजा है कि 'ऐतिहासिक रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्तित्व कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण-भारत, बौद्ध-भारत और हिंदू-भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है।.... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[44] हमारे सामने चुनौती इन आत्मभंजक स्थितियों से निबटने की है। कबीर इसमें बहुत सहायक हो सकते हैं, यदि हम कबीर को कबीर रहने दें!

iv.यह शोध का विषय हो सकता है कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले के ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष का मुसलमानों के वर्चस्व के बाद क्या हुआ? पता किया जा सकता है कि कहीं मुसलमानों के वर्चस्व के बाद 'ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष' का पर्यवसान 'हिंदू और मुसलमान के धार्मिक द्वंद्व' में तो नहीं हो गया! कहीं ऐसा तो नहीं कि उसके बाद बौद्धों का बहुत बड़ा हिस्सा मुसलमान बन गया और उसका छोटा अंश ब्रह्मणवाद के हिंदुत्व के परिसर में सिमटकर आ गया। बहुत थोड़े-से ही बौद्ध बचे रह गये! इतिहास संकेत करता है कि हमले का वास्तविक शिकार बौद्ध हुए--- मुसलमानों और ब्राह्मणों दोनों की ओर से की गई चोट को बौद्ध बर्दाश्त नहीं कर पाये। इसे सिर्फ 'हिंदू-मुस्लिम' के द्वंद्व के रूप में देखने से भी गड़बड़ी हुई है।

v.यह ऐतिहासिक बात है कि 'हिंदू-मुस्लिम' के द्वंद्व (यहाँ इस 'द्वंद्व' को सांप्रदायिकता कहने से सतर्कतापूर्वक बचना चाहिए और इस द्वंद्व में बौद्धों को भी अदृश्यत:-शामिल [45] समझना चाहिए) में सामाजिक-अन्याय से ग्रस्त भारतीय-समाज के दलन और दमन का मुद्दा दब गया। इस द्वंद्व को बड़ी आसानी से सांप्रदायिकता में बदलकर आम अदमी के अधिकार की बात को राजनीतिक एजेंडे से गायब कर दिया जाता है। आधुनिक समय का एक ऐतिहासिक अनुभव उललेखनीय है, 'अगस्त 1932 में मैकडोनल्ड ने सांप्रदायिक मामले में जो निर्णय दिया था, उसमें हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात भी थी। इससे गाँधीजी को यह बात सूझी कि वे अपना ध्यान मुख्य रूप से 'हरिजन'-कल्याण पर केंद्रित करें। 20 सितंबर को गाँधीजी ने हरिजनों के लिए अलग निर्वाचकमंडल के मुद्दे के विरुद्ध 'आमरण अनशन' आरंभ कर दिया, और अंत में सवर्ण हिंदू एवं हरिजन नेताओं के बीच एक समझौता (पूना समझौता) कराने में सफल हुए। इस समझौते के अनुसार मैकडोनल्ड के प्रस्ताव में परिवर्त्तन किये गये। हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचकमंडल बने रहे जिनमें अछूतों के लिए आरक्षित सीटें रखी गई और मैकडोनल्ड की तुलना में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व भी दिया गया। यही व्यवस्था थी जो मूलत: 1947 के बाद भी बनी रही।'[46] मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने की राजनीतिक स्थिति के उत्पन्न होते ही अयोध्या में रामजन्मभूमि पर मंदिर बनाने के नाम पर सांप्रदायिकता का कैसा उफान आया यह तो हमारा बिल्कुल ताजा अनुभव है।

vi.कबीर मनुष्यता की जिस उच्च्च-भूमि पर खड़े होकर अपने समय और समाज को संबोधित कर रहे थे, उस भूमि की ठीक-ठीक सांस्कृतिक पैमाइश की जाये तो हमें उनके व्यक्तित्व की विराटता का थोड़ा-बहुत एहसास हो सकेगा। शायद तभी हम समझ पायेंगे कि वे मनुष्य की एकता के लिए किस प्रकार 'शास्त्र-धर्म' से सीमित न होकर 'लोक-धर्म' के साथ फैल जाना चाहते थे। आलोचना भी मुख्य रूप से देखने का ही काम है। कबीर भी देखने पर इतना जोर देते हैं, तो इसे उनके आलोचनात्मक-विवेक से जोड़कर देखना ही उचित होगा। कबीर के आलोचनात्मक-विवेक (देखें 7.v) की ताकत का अंदाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि 'धर्म' देखने की नहीं मानने की बात करता है, दर्शन की नहीं अनुसरण का आग्रह करता है। देखने का बहुत हठ हो तो धर्म

आँख बदलने के बाद ही देखने की इजाजत देता है, इस तर्क के साथ कि 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षु: पश्य मे योगमैश्वरम।।'[47] यह कम बड़ी बात है कि ऐसे माहौल में भी कबीर साफ-साफ देख पा रहे थे ! वे 'कागद लेखी' को किन 'आँखन देखी' के आधार पर अ-पर्याप्त मान रहे थे? कबीर क्या देख रहे थे? कबीर देख रहे थे कि शास्त्र धर्म की माया किस तरह रूप बदलती है,'माया महा ठगनि हम जानी।/ तिरगुन फाँसि लिये कर डोले, बालै मधुरी बानी।।/ केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी। पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ में हू में पानी।।/ जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर के रानी।/ काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।।/ भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।/ कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।'[48] कबीर मनुष्य के बिगड़े हुए स्वभाव के कारण भाव में अ-भाव के कष्ट से गुजरा कर रहे जीवन को देख रहे थे; कबीर देख रहे थे और हँस रहे थे कि कैसे पानी बीच मीन प्यासी रह जाती है, 'पानी बिच मीन पियासी।/ मोंहिं सुन सुन आवै हाँसी।।/ घर में वस्तु नजर नहिं आवत। बन बन फिरत उदासी।।/ आतमज्ञान बिना जग झूँठा। क्या मथुरा क्या कासी।'[49] कबीर जो भोग रहे थे उसे देख भी रहे थे। कबीर इसलिए भी महान हैं। साधारण जन जो भोगते हैं वह देखते नहीं, जो देखते हैं वह भोगते नहीं; और कबीराई आँख से हँसते और रोते तो बिल्कुल ही नहीं हैं! कबीर हँसते ही नहीं रोते भी थे, जागते थे और रोते थे! कबीर जागते हुए क्या देखकर रोते थे? कबीर 'शास्त्र' और 'सत्ता' के 'दुइ पट' में फँसे जीवन को देखकर रोते थे, 'चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय। दुइ पट भीतर आय के, साबित गया न कोय।।'[50] कबीर सिर्फ हँसते और रोते ही नहीं थे, 'प्रेम राग से मन मत्त' होने पर नाचते भी थे, 'नाचु रे मन मत्त होया।/ प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।'[51] 'मन मस्त' होने पर चुपचाप बुद्ध की तरह मंद-मंद मुस्काते हुए कहते थे, 'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।/ हीरा पायो गाँठ गठियाओ, बार बार वाको क्यों खोले।'[52]

vii.विद्यापति ने 'देसिल बअना' को 'अवहट्ठ' नहीं बल्कि उसके समान कहते हुए उसे 'सबजनमिट्ठा' कहा था--- 'देसिल बअना सबजनमिट्ठा, तंञे तइसन जम्पञोअवहट्ठा'।[53] यह महत्त्वपूर्ण है कि 'देसिल बअना' को 'सबजनमिट्ठा' विद्यापति ने कहा था लेकिन संस्कृत को 'कूप-जल' और भाखा को 'बहता नीर' कहने का साहस तो कबीर के पास ही था। ऐसा निष्कपट साहस कबीर के पास था तभी तो 'वे साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर उन्होंने भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।'[54] बुद्ध ने पालि और महावीर ने प्राकृत जैसी जनभाषाओं को अपनाकर संस्कृत को पहले ही छोड़ दिया था, भाषा उनका भी लक्ष्य नहीं था। लेकिन संस्कृत तो ठहरी 'सुसंस्कृत' लोगों की देवभाषा! इतनी आसानी से जनभाषा के लिए जगह कैसे खाली कर सकती थी? संतों ने अपनी जनवाणी के लिए देवभाषा पर भरोसा करने के बदले जनभाषा पर भरोसा किया; भरोसा किया और इसीलिए देवभाषा की जगह पर जनभाषा सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित भी हुई। हालाँकि हिंदी और आधुनिक कही जानेवाली कई भारतीय भाषाओं को संस्कृत का अवतार बनाने की कोशिशें कम नहीं हुई हैं; ये ना-हक कोशिशें हिंदी में हाल-फिलहाल तक जारी रही हैं। इन्हीं कोशिशों के भ्रम में पड़कर कुछ लोग हिंदी को हिंदुत्व से ना-हक जोड़ कर संदेह की नजर से देखते हैं। बहरहाल, संस्कृत को चुनौती देने का सीधा मतलब उसके प्रयोग के आधार पर पल रहे वर्ग के हितपोषण में लगी शक्तियों को ही तो चुनौती देना था! निश्चित रूप से इस चुनौती को कबीर पूरी ताकत से प्रस्तुत कर रहे थे। इस चुनौती की समझ में अस्मिता का सवाल भी निहित है। इसे कबीर प्रवर्त्तित भक्ति के सरोकारों को व्यापक फलक पर देखने-परखने से ही समझा जा सकता है।

viii.आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में, 'कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिन से (अगर उपयोग किया जाये तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है।

वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परंतु आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के वाह्य आचारों और अंतर संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे।'[55] किसी भी चीज का उपयोग तो हम अपनी जरूरत के हिसाब से ही करते हैं। क्या समाज-सुधार हमारी जरूरत नहीं है? अगर है, तो उनके समाज-सुधारक रूप को क्यों नहीं प्रमुखता से चिह्नित किया जाये? ऐसा करने में हिचक क्यों है! अभिव्यक्त होते ही, समाज को संबोधित होते ही व्यक्ति का सामाजिक स्वरूप सामने आता है। सर्वाधिक प्रखरता और प्रश्नाकुलता के साथ सब को संबोधित करनेवाले कबीर अपनी साधना में व्यष्टिपरक कैसे हो सकते हैं! वैयक्तिकता और सामाजिकता के अंतस्संबंध इतने सरल नहीं होते हैं। 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना' यदि समष्टि-वृत्ति का होना, सामाजिक होना नहीं है तो सामाजिक होना और क्या हो सकता है? (देखें 3.vii और 5.vi)। 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में नहीं था, लेकिन जो कबीर में था वह क्या इस भाव से अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रामाणिक और प्रासंगिक नहीं है? इस पर विचार करना जरूरी है (देखें 7.i)।

5.भक्ति का उद्भव -- तेन कलाई और वेद कलाई का द्वंद्व

i.भक्ति के उद्भव के बारे में जॉर्ज ग्रियसर्न और आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर बाद के कई विद्वानों की कई तरह की मान्यताओं के बाद अब यह मान्य है कि 'भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानंद'। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही रेखांकित किया है कि 'असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे सवीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया।'[56] भक्ति के उद्भव का यह 'तात्त्विक' प्रसंग हो सकता है। इसके ऐतिहासिक और सामाजिक प्रसंग क्या हैं? इन ऐतिहासिक और सामाजिक प्रसंगों को उद्घाटित करने में आलोचना की गहरी रूचि होनी चाहिए।

ii.कबीर के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास। परंतु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अंतर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे।'[57] इस प्रतिद्वंद्विता के मूल में पुरोहितवाद के प्रति दृष्टिकोण में तात्त्विक अंतर था। इसीलिए, तुलसीदास और कबीरदास में बड़ा अंतर था। यह अंतर सिर्फ उनके व्यक्तित्व के कारण नहीं था। यह अंतर वस्तुत: व्यक्तित्व को बनानेवाले उनके सामाजिक अवस्थान, हित-बोध और दृष्टिकोण, आदि के कारण था। कबीर को समझने के लिए बार-बार इस बात को समझना होगा। असल में कबीरदास के सामने तुलसीदास की चुनौती नहीं थी। बल्कि, तुलसीदास के सामने कबीर की चुनौती थी। 'तात्त्विक' दृष्टि से 'सगुनहिं अगुनहिं, नहिं कुछ भेदा' के सच या मिथ्या होने का चाहे जो महत्त्व हो, लेकिन

ऐतिहासिक रूप से इसका जबर्दस्त सामाजिक महत्त्व है। यह महत्त्व तब समझ में अधिक स्पष्टता से आता है जब हमारे सामने यह सवाल पूरी निश्च्छलता से खड़ा होता है कि क्यों अधिकतर, शायद सभी, सवर्ण कवि अनिवार्यतः 'सगुणोपासक' ही थे और गैर-सवर्ण कवि अनिवार्यतः 'निगुर्णोपासक' थे। सवाल पूछा जा सकता है कि क्यों 'सगुणोपासक' 'राम-कृष्ण-शिव' के एकत्व की बात तो बहुत जोर-शोर से करता है लेकिन 'केशव-करीम' या 'राम-रहीम' के एकत्व के मामले में खामोश रहता है, जबकि 'निगुर्णोपासक' इस मामले में उल्लेखनीय ढंग से मुखर रहता है। 'लोक-धर्म की भक्ति', 'शास्त्र-धर्म के ढाँचे की कोष्ठबद्धता से बाहर' निकलकर उनके मनुष्यतर बनने की प्रेरणा बन रहा था। गोरखनाथ, नामदेव, कबीर, दादूदयाल, रज्जबजी आदि के संदर्भ से हम समझ सकते हैं कि सामाजिक एकता के संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष होकर किस प्रकार धार्मिक हुआ जा सकता है (देखें 7.i)। धर्म मूलत: उस लोक का मामला माना जाता है। संत कवियों के यहाँ भक्ति के संदर्भ पूर्णत: इसी लोक से संबंधित है। यह स्थिति उस राजतंत्र में थी जिस राजतंत्र में देश के शासन की बागडोर उन मुसलमान शासकों के हाथ में थी, जिन्हें आज कट्टर और क्रूर बताया जाता है। इस पूरे प्रकरण में, दुहराव की चिंता किये बिना कहना जरूरी है कि उस समय सवर्ण कवियों की वाणी में उदात्त चेतना चाहे जितनी रही हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं,या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही है। यह महज संयोग नहीं है। इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है (देखें 5.vii)। जब आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ' तो उस 'हजार वर्ष के इतिहास' में तुलसीदास भी शामिल हैं, ध्यान में होना ही चाहिए कि तुलसीदास कबीर के बाद हुए हैं। तुलसीदास के होने के बाद भी यह सच है कि 'कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ'।

iii.यह ऐतिहासिक सच है कि शुरू से ही मनुष्य ने अपने सामाजिकता में 'शास्त्र' अनुमोदित सत्ता-सहचरी नैतिकताओं की घेरेबंदी को तोड़कर जीवन को महत्त्व देने का अथक प्रयास करता आया है, जबकि ऐसे सभी प्रयासों को सत्ता फिर से अपनी अनुकूलता में लेने के लिए उन्हें 'शास्त्रीय विधानों' में जकड़ती आई है। इसके लिए जरूरी होने पर शास्त्र ने चतुराई से अपने को बदला भी है। 'समन्वय के लिए तुलसीदास का झुकना' (देखें 5.vi) अपने समय में इस तरह की चतुराई से बहुत मुक्त नहीं प्रतीत होता है। इसी तरह की चतुराई का नतीजा है कि बुद्ध को आत्मसात कर लेने से उपेंद्र (विष्णु), अर्थात् उप-
ेंद्र तो इंद्र से बड़े हो जाते हैं, लेकिन बौद्ध परे धकेल दिये जाते हैं! यह काम इतनी सफाई से होता है कि कई बार यह पता भी नहीं चलता है कि जिससे मुक्त होने के लिए सारा संघर्ष था, कब वही चुपके से 'हितैषी और सलाहकार' बनकर साथ हो गया। भक्ति की मूलचेतना हर प्रकार के धार्मिक बाह्याचार से मुक्ति की रही है। धार्मिक बाह्याचार से मुक्ति के सरोकार के रसायन को समझने के लिए उसके सामाजिक संदर्भों को गहराई से जानना और जाँचना-परखना जरूरी है। धार्मिक बाह्याचार से मुक्ति का सामाजिक तात्पर्य पुरोहितों के चंगुल से बाहर निकलने के अलावे और क्या हो सकता है! पुरोहितों के चंगुल का अर्थ जानने के लिए पुरोहितों को जानना जरूरी है। इतिहास बताता है कि 'जनजातीय अवस्था में लगभग सभी लोग जीवनयापन के साधन जुटाने और उत्पादन कार्य में लगे रहते थे। पर वैदिकोत्तर काल आते-आते इस प्रकार का श्रमविभाजन *(उद्धरण* नहीं*: जो श्रमिक विभाजन का आधार बना)* सुनिश्चित हुआ जिसके अनुसार थोड़े-से लोग अनुत्पादक और प्रबंधकीय कार्य में लग गये और अधिकांश लोगों को खेती और शिल्प जैसे उत्पादन कार्य में लगाया गया। वर्ण व्यवस्था के द्वारा इस सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ किया गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय को धर्म और शासन चलाने का दायित्व मिला और अन्य वर्णों को

पैदा करने और कर देने का। विभिन्न वर्णों का धर्म क्या है, इसका प्रावधान धर्मशास्त्रों में किया गया। इस व्यवस्था के अनुसार राजा धर्म अर्थात् विधि का संरक्षक ही नहीं वरन् धर्म के नष्ट होने पर उसका प्रवर्त्तक भी बना। अर्थात् वह वर्ण विभाजित समाज का पोषक बना। इसी कारण उसके लिए 'धर्म महाराज' और 'धर्म प्रवर्त्तक' जैसी पदवियों का प्रयोग किया जाने लगा। 'धर्मराज' की पदवी केवल युधिष्ठिर को ही नहीं दी गई वरन् जैसा कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के अभिलेखों से प्रकट होता है, अनेक राजाओं ने अपना नाम ही 'धर्मराज' रखा। ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख बताते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और संरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा अभिलेखों में आम तौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक संकट आरंभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के पौराणिक पाठ्यांशों से पता चलता है कि आंतरिक संकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के अभिलेखों में स्पष्ट रूप से ओर बाद के पुरा लेखों में पारंपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया है। पल्लव राजा सिंहवर्मन के लिए 'कलियुग दोषावसन्न -- धर्मोद्धारेण सन्नद्ध' (कलियुग के दोषों से अवसन्न धर्म के उद्धार के लिए सन्नद्ध) विशेषण का प्रयोग किया गया है।'[58]

iv.यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि 'असोक के बाद राज्य ने एक नये कार्य को आगे बढ़ाने का जिम्मा लिया--- विभिन्न वर्गों में समन्वय स्थापित करना। अर्थशास्त्र ने इसकी कल्पना भी नहीं की थी, और असलियत यही है कि समाज के वर्गों का उदय एक प्रकार से उन छिद्रों से हुआ है जो भारतीय राजतंत्र--- व्यापक पैमाने पर भूमि की सफाई, भूमि अधिवास तथा अत्यधिक नियंत्रित व्यापारवाले राजतंत्र--- में पैदा हो गए थे। समन्वय के इस कार्य के लिए विशेष अस्त्र था--- नए अर्थवाला सार्वभौमिक *धम्म*। नवोदित धर्म ने राजा और नागरिक के आपसी मेल-मिलाप के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। आज भले ही यह सर्वोत्तम उपाय न प्रतीत हो, पर उस समय वह तुरंत कारगर सिद्ध हुआ। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि असोक के समय से भारत के राष्ट्रीय चरित्र पर *धम्म* की छाप लग गई। *धम्म* शब्द का अर्थ शीघ्र ही 'समदृष्टि' से बदलकर भिन्न हो गया, यानी 'धर्म' हो गया--- पर यह वह धर्म नहीं था जिसे स्वयं असोक ने खुले आम स्वीकार किया था। इसके बाद भारतीय संस्कृति के विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही कि इस पर किसी-न-किसी धर्म का भ्रामक बाह्य आवरण सदैव चढ़ा रहा।'[59] डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया।'[60]

v. 'कौटिल्य ने लोगों को राजा के देवत्व की प्रतीति कराने के लिए अनेक प्रकार के प्रचार अधिकारियों की व्यवस्था की है। इस कार्य के लिए सात प्रकार के अधिकारियों को राज्य की सेवा में प्रवृत्त करना है। वे हैं – ज्योतिषी (दैवज्ञ), भविष्यवक्ता, मौहूर्तिक, पौराणिक (कथावाचक), ईक्षणिक (संभवत: एक प्रकार के देवज्ञ, जो प्रश्नोत्तर के क्रम में भविष्य का शुभाशुभ बताते थे, गुप्तचर और साचिव्यकर (राजा के सहचर)। ''अर्थशास्त्र '' में अन्यत्र प्रथम चार का उल्लेख पुरोहित वर्ग के सदस्य के रूप में हुआ है। यह लोकमत तैयार करने में पुरोहितों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रभाव है।'[61] पुरोहित का काम 'कलियुग के सामाजिक संकट' से निपटने के लिए राजा की मदद करना, अर्थात 'वर्णव्यवस्था के बिखराव' को रोकने का प्रयास करना था। कहना न होगा कि तुलसीदास भी 'वर्णव्यवस्था के बिखराव' से काफी परेशान थे। वे इस बिखराव को रोकने के लिए भी प्रयासरत थे, इस अर्थ में

वे नये तरीके से पुरोहित का ही काम कर रहे थे। 'वर्णव्यवस्था को बिखराव' में डालने का काम कबीरदास कर रहे थे। यही वह जगह है जहाँ समझना जरूरी है क्यों 'महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास।'[62] (देखें .vii) क्या याद दिलाने की जरूरत है कि कबीर पहले हुए थे, कबीर तुलसीदास के प्रतिद्वंदी नहीं थे, बल्कि तुलसीदास कबीर के प्रतिद्वंदी थे!

vi. 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।... लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय--- रामचरित-मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।... समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि रामचरित-मानस के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह शुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता।... आज चार सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।'[63] जिस भक्त के चिंतन में 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझने' का मनोभाव सक्रिय हो उससे बड़ा समन्वयकारी और कौन हो सकता है! (देखें 4.vi) यह सच है कि कबीर का समन्वय झुकने-झुकानेवाले समन्वय से भिन्न है, क्योंकि वे झुकने-झुकानेवाले समन्वयों (बुद्ध और गीता के प्रसंग में) का सांस्कृतिक परिणाम देख रहे थे। जिस रामचरित-मानस के हवाले से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आज के उत्तर-भारत को तुलसीदास का रचा हुआ बताते हैं, तुलसीदास के रचे उस उत्तर-भारत में 'ब्राह्मण और चाण्डाल' का समन्वय हो गया है! नहीं हुआ है और फिर भी आज का उत्तर-भारत तुलसी का रचा हुआ माना जाता है, तो गड़बड़ी कहाँ है? आलोचना को इस सावल को खोलना ही होगा। जिस 'रामचरित-मानस' को आज के उत्तर-भारत को रचने का श्रेय आचार्य द्विवेदी देते हैं इसमें कुछ तो सचाई है ही! क्या है वह सचाई? 'रामचरित-मानस' के बारे में नागार्जुन कहते हैं, 'रामचरितमानस हमारी जनता के लिए क्या नहीं है? सभी कुछ है! दकियानूसी का दस्तावेज है... नियतिवाद की नैया है... जातिवाद की जुगाली है। शामंतशाही की शहनाई है! ब्राह्मणवाद के लिए वातानुकूलित विश्रामागार... पौराणिकता का पूजा-मंडप... वह क्या नहीं है! सब कुछ है, बहुत कुछ है! रामचरितमानस की बदौलत ही उत्तर भारत की लोकचेतना सही तौर पर स्पंदित नहीं होती। 'रामचरितमानस' की महिमा ही जनसंघ के लिए सबसे बड़ा भरोसा होती है हिंदी भाषी प्रदेशों में।'[64] भक्ति काल के ही एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवि जायसी के पद के आधार पर नामकरणवाले दूधनाथ सिंह के उपन्यास 'आख़िरी कलाम' का एक प्रसंग इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, 'एक बड़ा कवि है और अपनी हस्ती और हैसियत से बखूबी परिचित है। उसे अपने ग्रन्थ और विचारों के लिए एक मूढ़ और अंधी आस्था तैयार करनी है। जाने-अनजाने वह यही कर बैठता है। बहुत ही सघन कवित्व है लेकिन विचारों की तानाशाही में जाकर खत्म होता है।... उसी अंधी आस्था का कमाल है यह.... जो आप देख रहे हैं -- उसी वैचारिक तानाशाही का कमाल। जो अब जाकर उभरा है। जो कथा 1575 ई. में रची गई, उसका असर चार सौ वर्षों बाद उजागर हो रहा है। यह है गोस्वामीजी का घटाटोप। एक ऐसा उत्कृष्ट कविकर्म जो विचारों की इजारेदारी में बदल गया। शायद तुलसीदास को भी इसकी कल्पना नहीं रही होगी। लेकिन कोई भी कवि-कर्म अगर हिंसक धर्मग्रन्थ में परिणत हो ताए तो उसे आप क्या कहेंगे?'[65] यह समझना ही होगा कि 'कबीर का सवप्न क्यों बिखर गया? तुलसी कबीर से सौ साल बाद होकर

भी कबीर से अधिक मुखर क्यों नहीं हो सके? भक्ति पुन: धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में क्यों बदल गई?'[66] तुलसीदास मुखर नहीं, 'चिंताग्रस्त' और 'चिंतनरत' थे! 'भक्त' तो थे ही!

vii. 'तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (Balance) की रक्षा करते हुए, एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की और अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन भारत का नया जन्म होगा।'[67] और कबीर? कबीर के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी कहते हैं, 'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है -- बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।'[68] 'अपने-आप' बनते गया है! क्या मतलब? 'घूणाक्षर-न्याय' की तरह अपने-आप बनते गया है! क्या हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रति असहिष्णु हैं? इस सवाल का जवाब देना न तो बहुत प्रासंगिक है और न मकसद ही है। लेकिन कबीर के मामले में उनका आलोचनात्मक रवैया सीधी-सरल रेखा से समझ में नहीं आता है। क्या किसी ना-समझी में यह संदेह पुष्ट होता है! यह सच है कि कबीर को फिर से सामने लाने का आलोचनात्मक दायित्व ऐतिहासिक रूप से सबसे अधिक तत्परता से उन्होंने निभाया है। शांतिनिकेतन में रहते हुए उन्हें कबीर के महत्त्व का अंदाजा लग गया था। बंगाल के नवजागरण के सूत्रकारों से उनका निकट का संबंध बना था। नवजागरण के सूत्रों से उन्हें कबीर नये संदर्भ में महत्त्वपूर्ण लगने लगे थे। वे महिमा में कबीर की प्रतिद्वंद्विता तुलसी से होने को देख रहे थे। दिक्कत यहीं हो गई। सही स्थिति यह थी कि कबीर की तुलसी से नहीं, तुलसी की कबीर से प्रतिद्वंद्विता थी। यहाँ नवजागरण के ज्ञानोदय ने नहीं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अपने संस्कार ने अपना खेल दिखाया और प्रतिद्वंदिता का क्रम बदल गया। असल में, बाद में होने का लाभ तुलसी को मिला। उन्होंने कबीर समेत भक्ति के पूरे सामाजिक पाठ को उलटकर उसे फिर से सामंतवाद, शास्त्र-धर्म और वर्ण-व्यवस्था में समेट लिया। तुलसीदास का यह प्रभाव हिंदी क्षेत्र में गहरा पड़ा, लेकिन हिंदी-क्षेत्र से बाहर तुलसी का प्रभाव पड़ा ही नहीं या फिर बहुत फीका पड़ा। दोनों का प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने था। इन प्रभावों का द्वंद्व उनके भीतर था। इसी द्वंद्व का नतीजा है कि वे आलोचना की नजर से इस बात को सैद्धांतिक रूप से ठीक ही देख रहे थे कि 'ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं' लेकिन अपने संस्कारगत दबाव के कारण व्यावहारिक रूप से 'प्रधान ध्वनित वस्तु' को 'बाई प्रोडक्ट' और 'फोकट का माल' कह रहे थे। काव्य रचना कबीर की प्रतिज्ञा नहीं थी तो तुलसी की भी प्रतिज्ञा नहीं थी। फिर तुलसी का काव्य 'अद्वितीय' कैसे हो गया और कबीर का काव्य 'फोकट का माल' कैसे हो गया !

viii.'सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्त्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम-से-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण में आज की भाँति ही जाति-विचार अत्यंत जटिल अवस्था में था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, इन जाति-विचार-शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं लेकिन समाज के व्यवहार में जाति-भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग भोजन करेगा, क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति-भोजन में ही उठता है। इसी को दक्षिण में 'तेन

कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पंद्रहवीं शताब्दी में वेदांतदेशिक ने वेदवाद और प्राचीन रीति को पुन: प्रवर्त्तित किया। इसी को वेदवाद या 'वेद कलाई' कहते हैं। 'तेन कलाई' वालों ने विवाह में होम ओर विधवा का मस्तक-मुंडन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदांतदेशिक ने पुनर्वार इन आचारों को जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज था, जो क्रमश: शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह हम ठीक से नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहाँ तक दार्शनिक रूप दिया है।'[69] जिस प्रकार 'वेद कलाई' ने दक्षिण में 'तेन कलाई' को पलट दिया उसी प्रकार उत्तर में भक्ति की मूल-चेतना को 'सगुणोपासना' ने उसके स्वाभाविक पथ से भटका दिया। भक्ति के प्रभाव में तेजी से तुच्छ और निरर्थक होते जा रहे पुरोहितवर्ग के लिए 'सगुणोपासना' के माध्यम से फिर जगह बनने लगी। अकारण नहीं है कि 'निर्गुण' के उपासक गैर-सवर्ण थे जबकि 'सगुण' के उपासक सवर्ण थे। 'निर्गुण' के उपासक के लिए रोजी-रोटी का जरिया उनकी उपासना नहीं थी जबकि जबकि 'सगुण' के उपासक के लिए रोजी-रोटी का जरिया उपासना ही थी (देखें 5.vii)।

ix.कबीर के गीत उनके 'ब्रह्म विचार' हैं, लेकिन उसमें मनुष्य का समष्टि-भाव का सामाजिक और जागतिक परिप्रेक्ष्य भी साफ है। जिनको भजन से भोजन नहीं मिलता है, और जिनको भजन से ही भोजन मिलता है, उनके भजन-भाव में अंतर होता ही है। आखिर, भूखे भजन तो होता नहीं! उनके नाम सुमिरन माहात्म्य के बोध में भी अंतर होता है। हालाँकि कबीर नाम सुमिरन के मत्त्व को जानते हैं, लेकिन उसे वे पर्याप्त नहीं मानते हैं। वे कथनी और करनी की एकता की भी बात करते हैं। उन्होंने चेताया था कि 'पंडित बाद बदंते झूठा।/ राम कह्यां दुनिया गति पाबै, षाँड कह्याँ मुख मीठा॥/ पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।/ भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई॥'[70] पानी कहने से प्यास मिट जाती, भोजन कहने से भूख मिट जाती, तो फिर कया बात थी! ऐसा अगर नहीं है, तो सिर्फ नाम जपने से क्या होता है! आदमी की संगत में तोता भी राम नाम जप सकता है। लेकिन तुलसीदास मानते हैं, 'नाम सुमिरन सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे॥'[71] कबीर और तुलसी के 'नाम सुमिरन' के महात्म्य में अंतर है (देखें 6.i)।

6. पांडे कौन कुमति तोहि लागी

i.कबीर पर 'तात्त्विक दृष्टि' से बहुत विचार हुआ है। 'तत्त्व' में बदलाव नहीं आता है, 'स्थिर' और 'अटल' होकर ही वह तत्त्व और शास्त्र बनता है। संत-साहित्य का लोकधर्म शास्त्र से प्रेरणा नहीं लेता है, शास्त्र का प्रयोग जरूर करता है। कहना न होगा कि प्रयोग करने और प्रेरणा लेने में भारी अंतर होता है। 'धर्म' शास्त्र से प्रेरणा लेता है, जीवन और लोकाचरण में प्रयोग नहीं करता है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेने के बदले उसके विरोध में जाने का 'जोखिम' उठाते हुए भी उसका जीवन और लोकाचरण में भरपूर प्रयोग करती है। क्योंकि भक्ति कुमति को पहचानती है, 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी॥/ वेद पुरान पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन अस जैसें भारा।' जाहिर है 'राम नाम जपना' और 'वेद पुरान' पढ़ना दोनों अपनी-अपनी वस्तुवाचकता और अपने पदार्थ-बोध में एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। तुलसीदास के 'नाम सुमिरन सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे॥' में और कबीरदास के 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी॥' में तात्त्विक अंतर है। तुलसीदास का 'नाम सुमिरन' 'वेद पुरान' के अतिरिक्त और 'वेद पुरान' का विस्तार है, कबीरदास का 'राम नाम जपना' उस 'वेद पुरान' का विकल्प और उस 'वेद पुरान' से निस्तार का मार्ग है। इस अंतर का संबंध उनके सामाजिक अवस्थान से है। असल बात यह है कि अपने समय की जीवन-स्थितियों के कारण 'भक्ति' 'शास्त्र के खर-चंदन-भार' से 'धर्म' को मुक्त करने के क्रम में अंतर्धार्मिक और धर्मातीत रास्ता

अख्तियार करती है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में--- या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है। उन धर्मों का असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मल्लिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत-साहित्य की अपनी विशेषताएँ हें जो मूलत: किसी प्राचीन धर्मग्रंथ पर निर्भर नहीं हैं।'[72] इतिहास गतिशील रहता है। आनेवाला समय गुजरे हुए समय की समझ को बार-बार परखने की चुनौतियाँ देता है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में--- या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है', इसीलिए भक्ति को धार्मिक परिप्रेक्ष्य के बाहर और 'भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों' के परिप्रेक्ष्य के अंदर से समझना और स्वीकारना ही उचित और उपादेय है। लेकिन यह काम आलोचना तत्परता से नहीं कर सकी है (देखें 2.v)। तुलसीदास में भक्ति का धार्मिक परिप्रेक्ष्य अधिक है और कबीरदास में सामाजिक परिप्रेक्ष्य अधिक है। तुलसीदास ने भक्ति साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ला खड़ा किया जिससे 'भक्ति' के गौण होते जाने और 'धर्म' के प्रमुख होते जाने का मार्ग प्रस्तुत हुआ। इस अर्थ में तुलसीदास के भक्त होने के बावजूद उनकी धार्मिक-चेतना, भक्ति की मूल सामाजिक चेतना का विरोध रचती है। वस्तुत: आज कबीर पर 'तात्त्विक-दृष्टि' से अधिक 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से विचार करने की जरूरत है।

ii.देशी-विदेशी विद्ववानों ने इस बात को गहराई से समझा है कि कई बार बुद्धि-विरोधी और लोक-विरोधी प्रतीत होने के बावजूद 'तात्त्विक-दृष्टि' के गर्भ से विकसित मान्यताओं और आचरणों की शृँखलाओं का 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध सांस्कृतिक विद्रोह और पुनर्निर्माण में बड़ी गहरी और सकारात्मक भूमिका रही है। 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से देखें तो, सांस्कृतिक विद्रोह और पुनर्निर्माण की मुख्य आकांक्षा लोक-चेतना को निर्मित करती रहती है। इस लोक-चेतना का उपयोग सामाजिक संरचना के पुनर्निर्माण, राजनीतिक परिवर्त्तन और मनुष्य की मुक्ति के काम में साहसपूर्वक किया जा सकता है। भारतीय समाजों के संदर्भ में, और खासकर हिंदी समाजों के संदर्भ में, यह काम अधूरा क्यों रह गया है? यह सवाल इतिहास की ऐसी रसौली है, जिसकी टीस से भारतीय समाज और खासकर हिंदी समाज आज भी बहुत बेचैन है। (देखें 1.ii)

iii.औपनिवेशिक अवरोध से इतिहास के स्वाभाविक प्रवाह में कितना बड़ा व्यतिक्रम हुआ, कहाँ-कहाँ इस अवरोध ने इतिहास की स्वाभाविक धाराओं का न सिर्फ पथांतर बल्कि दिशांतर भी कर दिया! 'ऐतिहासिक-दृष्टि' से कबीर का अध्ययन करने के क्रम में इतिहास की धाराओं के पथांतर और दिशांतर से एक अदृश्य अवरोध बराबर बना रहता है। भ्रम से बचने के लिए, यहीं एक बात साफ कर देना जरूरी है। यहाँ, 'औपनिवेशिक अवरोध' का आशय 'बाह्य औपनिवेशिकता' से सीमित ओर सरलीकृत नहीं है। यहाँ, 'औपनिवेशिक अवरोध' का आशय बहुत ही बेचैनी के साथ 'आंतरिक औपनिवेशिकता' तक विस्तृत और जटिल है।

7.सांप्रदायिकता का शास्त्र और कबीर का मत

i.सामान्य अनुभव यह है कि सांप्रदायिकता अपने चरित्र में निषेधात्मक और जटिल होती है। सांप्रदायिकता अपने समूह से बाहर के किसी समूह और उस समूह के सदस्यों को अपने समूह एवं समूह के सदस्यों की तुलना में हेय मानकर चलने का पूर्वग्रह बनाती है। सिर्फ धर्म ही नहीं वर्ण, जाति, नस्ल, क्षेत्र, मातृभाषा जैसे अपरिवर्त्तनीय सामाजिक आधार पर पहले से बने किसी समूहन को राजनीतिक समूहन में बदलने की कुचेष्टाओं से सांप्रदायिकता

का जन्म होता है। सांप्रदायिकता 'हमलोग' को उत्तम और 'वे लोग' को अधम मानती है। सांप्रदायिक आधार पर बना राजनीतिक समूहन, अपने गोल के बाहर के अन्य सभी समूहनों और अंतत: राज्य पर अपना पूर्ण वर्चस्व कायम करने की कोशिश करता है। जनतांत्रिक व्यवस्थावाली राजनीति में यह प्रवृत्ति अधिक खतरनाक बन जाती है, क्योंकि इसका सीधा असर वोट की राजनीति पर पड़ता है, जिससे वर्चस्व के नये-नये अवसरों के बनने का रास्ता साफ होता है। कहना न होगा कि हाल के दिनों में, धार्मिक समूहन को राजनीतिक समूहन में बदलकर समाज और राज्य सत्ता पर वर्चस्व बनाने की राजनीति के कारण सांप्रदायिकता के सबसे खतरनाक और मुखर रूप का नये सिरे से उभार हुआ है। ध्यान में रखने की जरूरत है कि यह शाश्वत नहीं, ऐतिहासिक स्थिति है; अर्थात सभ्यता के उदय से अस्त की स्थिति नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक काल में इसकी शुरुआत हुई है और एक दूसरी ऐतिहासिक काल में इसके अंत की संभावनाएँ हैं। कहना न होगा कि उत्तर-भारत में धर्म आधारित सांप्रदायिकता के बीच तीखा टकराव आधुनिक संवृत्ति है। कबीर के समय में संप्रदायों में सामाजिक अभिसरण [73] की प्रक्रिया जारी थी। कबीरदास इस सामाजिक अभिसरण के सबसे अधिक प्रखर और समर्थ सांस्कृतिक प्रवक्ता थे; कबीरदास अंतर्धार्मिक सामाजिक समन्वय के लिए प्रयत्नशील थे। इस अर्थ में देखें तो हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों को समन्वित करनेवाले 'तुलसीदास के समन्वय' ने निर्वैर धर्म की निर्विशिष्ट मानवता की ओर बढ़ते अंतधार्मिक एवं धर्मातीत सामाजिक अभिसरणवाले कबीर के समन्वय के प्रवाह की दिशा ही बदल दी, बल्कि उलट दी। केरल के अनुभव कई मामलों में आँख खेलनेवाले हो सकते हैं। यह चकित कर देनेवाली बात है कि 'एक सदी पहले के केरल अगर सबसे ज्यादा ऊँच-नीच के भेदभाववाला क्षेत्र था तो आज भरत में सबसे ज्यादा समानता का सिद्धांत माननेवाला इलाका बन गया है। छूआछूत और भेदभाववाली बात गायब हो गई है, स्कूल-कॉलेजों और मंदिरों में प्रवेश पर कोई पाबंदी नहीं रह गई है। राज्य जल्दी ही शत-प्रतिशत साक्षर होने जा रहा है और पुरानी जमींदारियाँ कब की समाप्त हो चुकी है।'[74] केरल का अनुभव यह है कि अपने-अपने संप्रदायों से जुड़े लोगों के सामाजिक उत्थान के प्रयास में लगना सांप्रदायिकता नहीं है, सांप्रदायिकता है, इसके लिए दूसरे संप्रदाय से जुड़े लोगों के हितों की हत्या करना और इसके लिए उन पर अपने संप्रदाय का राजनीतिक वर्चस्व कायम करना। 'हिंदुओं और मुस्लिमों के रिश्ते कितने गहरे हैं ओर किस तरह राजनीति का एक क्षेत्रीय आख्यान उन्हीं कदमों का अर्थ बदल देता है जिन्हें उत्तर और पश्चिम में राष्ट्र के लिए खतरा माना जा सकता है, इसे समझने के लिए हमें सामाजिक न्याय के दर्शन और और 1947 के बाद के केरल की राजनीति में इसके कामकाज पर गौर करना चाहिए।'[75]

ii.कबीर साहब के समय में सांप्रदायिकता की समस्या नहीं थी। संप्रदाय थे, बौद्ध के हीन यान, महायन, वज्रयान आदि थे, जैनियों के दिगंबर, श्वेतांबर आदि थे, हिंदुओं के शैव, वैष्णव, शाक्त, सार, गाणपत्य आदि थे, इस्लाम के शिया, सून्नी आदि थे और उनकी अपनी-अपनी धारणाएँ और मान्यताएँ थीं। ये धारणाएँ और मान्यताएँ आपस में टकराती भी थीं और एक दूसरे को काटती भी थीं। केरल के अनुभव से मिलाकर देखने पर यह बात साफ हो सकती है कि संप्रदायों का होना और 'सांप्रदायिकता' का होना एक ही बात नहीं है। संप्रदाय जरूरी नहीं कि सांप्रदायिक ही हों। अपने खास अर्थ में, 'सांप्रदायिकता' आधुनिक समय की समस्या है। इतिहास बताता है कि आजादी के आंदोलन के दौरान 'एक अन्य महत्त्वपूर्ण संकीर्ण चेतना थी धार्मिक विभाजन - हिंदू और मुस्लिम संप्रदायवाद, जिसे उपनिवेशवाद ने उत्पन्न और अक्सर प्रोत्साहित किया। इस जटिल विषय पर स्पष्ट चिंतन के मार्ग में बाधा बनीं वे दो परस्पर विरोधी रूढ़ धारणाएँ, जिनका विकास बीसवीं सदी में हुआ। इनमें से एक तो थी वह सांप्रदायिक धारणा जो हिंदुओं और मुसलमानों को समांगी और अनिवार्यत: परस्पर-विरोधी ऐसी इकाइयाँ मानती थी जो मध्यकाल से ही दो राष्ट्रों के रूप में बनी रही थीं। इसके ठीक विपरीत थी राष्ट्रवादी धारणा जिसके अनुसार भारत में हिंदू मुसलमान कभी पूर्ण मैत्री के स्वर्णयुग में रहते थे, लेकिन अँग्रेजों ने फूट डालो और राज करो

की नीति द्वारा समाप्त कर दिया था। इन दोनों ही धारणाओं में देशव्यापी एकता और एकरूपता की मान्यता निहित है जोकि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दूरसंचार एवं आर्थिक संबंधों के विकास के पूर्व निश्चित रूप से असंभव थी। वस्तुतत: भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यत: आधुनिक संवृतियाँ हैं।'[76] इस आधुनिक संवृत्ति को समझने और उसके विषप्रभाव से मुक्त होने में कबीर का साहित्य हमारे लिए मार्गदर्शी हो सकता है।

iii. 'जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी संप्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी और ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं', तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण उँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।'[77] यह औषध 'भगवद्विश्वास' है, या 'मनुष्य-प्रेम' है! 'प्रेम-भक्ति (भक्ति-प्रेम नहीं) को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु' (देखें 2.iv) मानने पर यह प्रश्न बार-बार अपना उत्तर माँगता है। कबीर के साहित्य में धर्म की एकता का नहीं, मनुष्य की एकता की उच्चतर-आकांक्षा है। 'मनुष्य की एकता की उच्चतर-आकांक्षा' अर्थात समता, के रास्ते में धर्म का आडंबर जहाँ-जहाँ अवरोध खड़ा करता है, कबीर का काव्य वहाँ-वहाँ जोरदार चोट करता है। धर्म 'अनेक' रहें, लेकिन उनके माननेवालों में आंतरिक और बाहरी सामंजस्य का भाव हो। यही बहुलतावादी भारतीय संस्कृति का सार है। बहुलता में विविधता के लिए जगह होती है। लेकिन सांस्कृतिक-विविधता को सामाजिक-विषमता का नैसर्गिक आधार मानना भारी भूल है। बहरहाल, ध्यान दिलाया जा सकता है कि आंतरिक-सामंजस्य का संबंध मुख्यत: आत्म-सुधार से होता है और बाहरी सामंजस्य का संबंध मुख्यत: सामाजिक-सापेक्षता की ओर गतिशील आत्म-निरपेक्षता से होता है। कबीर अपने समय में प्रत्येक स्तर पर सामाजिकों और समुदायों के बीच आंतरिक-बाहरी सामंजस्य के लिए संघर्षरत थे। इस संघर्ष के रास्ते में जो भी अवरोध सामने आया उस पर कबीर ने बेधड़क गहरी चोट की है।

iv.जो लोग मनुष्य की एकता के प्रति संवेदनशील नहीं होते हैं, वे ईश्वर के एकत्व के विरोध में भी बहुत मुखर होते हैं। कबीर का मनुष्य की एकता में भरपूर भरोसा था, इसीलए वे ईश्वर की एकता के प्रबल समर्थक थे। मनुष्य की एकता में भरोसा था इसलिए समता की भी जबर्दस्त आकांक्षा थी। 'बेकन ने कहा कि मनुष्य के मन तीन प्रकार के होते हैं। कुछ चींटी की तरह संग्रह करने में लगे रहते हैं; और कुछ मकड़ी की तरह अपने अंदर से उपजाते हैं; और कुछ मधुमक्खी की तरह इधर उधर से सामग्री लेकर उसे विशेष आकृति देते हैं। इस कथन में अनुभववाद, विवेकवाद और आलोचनवाद के दृष्टिकोणों की ओर सुंदर रीति से संकेत किया गया है। अनुभववाद के अनुसार सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है; विवेकवाद के अनुसार सारा ज्ञान अंदर से निकलता है; आलोचनवाद के अनुसार ज्ञान की सामग्री बाहर से मिलती है, उसे आकृति मन देता है।'[78] कबीर के आलोचनात्मक विवेक का अनुभव मध्ययुग को समझने में भी सहायक है और आज के युग को समझने में भी सहायक है। 'मध्ययुग के

भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदू धर्म संघर्ष। यदि इस' शास्त्र-लोक द्वंद्व पर किसी मार्क्सवादी पंडित को इसलिए एतराज हो कि यह वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक शब्दावली नहीं है तो उसके परितोष के लिए मार्च 1946 के 'द माडर्न क्वार्टली' (जिल्द 1, संख्या 2, लंदन) में प्रकाशित जान ईविन के लेख 'द क्लास स्ट्रगिल इन इंडियन हिस्टरी एंड क्लचर' का हवाला देना पर्याप्त है।... शासक वर्ग की विचारधारा के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहने के कारण 'लोकधर्म' शास्त्र से हीन प्रतीत होते हुए भी उसका विकल्प बनकर उपस्थित होता है और यही उसकी शक्ति है। लोकधर्म का प्राण उसका विद्रोह है। इसलिए दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खड़े होनेवाले प्रत्येक जनआंदोलन की शक्ति और सीमा को समझने के लिए उसके द्वारा मान्य ऐसे 'लोकधर्म' का अध्ययन आवश्यक है।'[79]

v.कबीर में जितनी तेज अनुभव शक्ति थी, उतना ही प्रखर उनका विवेक था, साथ ही अनुभव और विवेक से समर्थित उतनी ही समृद्ध एवं गहरी आलोचनात्मक-अंतर्दृष्टि थी। इसी आलोचनात्मक-अंतर्दृष्टि से हासिल 'आँखिन देखी' के बल पर जब कबीर 'कागद की लेखी' को चुनौती देते हैं तो उनका पूरा व्यक्तित्व 'शास्त्र-धर्म' के पहाड़ के ऊपर 'लोक-धर्म' की 'पूरब दिसि से उठी हुई बदरिया' की तरह छा जाता है। कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व 'प्रेम' है, आज पूरी दुनिया को इसकी जरूरत है। इस जरूरत को पूरा करने के लिए कबीरदास के साहित्य को बार-बार देखने और लोकाभिमुख होने के लिए अनुभव सिद्ध प्रेरणा लेने की जरूरत है। 'अकथ कहाँणी प्रेम की, कछु कही न जाई। गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसुकाई।'[80] जी हाँ, आज पूरी दुनिया को प्रेम की बड़ी जरूरत है, लेकिन प्रेम को समझना उससे बड़ी चुनौती है। पूरी दुनिया को इंतजार है कि कब 'पूरब दिसि से उठी हुई बदरिया' सभ्यता के घर-आँगन, खेत-खलिहान में झूमकर बरसती है। सच-सच बताइये क्या आपको भी इंतजार नहीं है!

कृपया, निम्नलिंक भी देखें—

1.आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक और इततिहास के सवाल

[1]जयदेवः गीतगोवन्दः राजकमल प्रकाशनः प्रथम संस्करण -1983
[2] संपादकः डॉ. नगेन्द्रः हिंदी साहित्य का इतिहासः मयूर पेपर बैक्स,प्रकाशन-2001
[3] संपादकः डॉ. नगेन्द्रः हिंदी साहित्य का इतिहासः मयूर पेपर बैक्स,प्रकाशन-2001
[4] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीरः कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन -1980
[5] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीरः कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन -1980
[6] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली 249, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[7] प्रफुल्ल कोलख्यानः प्रेम जो हाट बिकायः जनसत्ता – दुनिया मेरे आगे 14 मई 2001
[8] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली 156, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[9] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980
[10] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, साखी 249, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[11] पी सेमुअल हट्टिंगटन के Clashes of Civilization का संदर्भ लें
[12] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, परचा को अंग-35, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[13] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली 58, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[14] Interpolation का अर्थ लें
[15] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, समर्थाई कौ अंग-5, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[16] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[17] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[18] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, कुसंगति कौ अंग-7, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी

[19] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[20] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, पदावली - 40, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[21] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली सं.13-1975, साध साषीभूत कौ अंग-2,नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[22]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-4,नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[23]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-2,नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[24]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-3,नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[25]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-4,नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[26]श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,करणीं बिना कथणी कौ अंग-1,नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[27] रघुवीर सहायः (संपादन- सुरेश शर्मा) एक समय थाः भाषा का युद्ध- 1995
[28] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[29] रामविलास शर्माःपरंपरा का मूल्यांकनःसंत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ : राजकमल प्रकाशन,1981
[30] लेनिनः समाजवाद और धर्मः धर्म और लेनिनः संग्रहीत रचनाएँ खंड 10 (हिंदी पाठः नेशनल बुक एजेंसी)
[31] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[32] श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,पदावली-58, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[33] धर्मवीरः सूर्य पर पूरा ग्रहण (कबीरः हजारीप्रसाद द्विवेदी) वर्तमान साहित्यः शताब्दी आलोचना पर एकाग्र-1: मई 2002
[34] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement inIndia: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)
[35] रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, 5 वीं आवृत्तिः राजकमल प्रकाशन 2001
[36] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement inIndia: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002) से टाइम्स ऑफ इंडिया 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट
[37] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[38] डॉ. धर्मवीरः कबीर नई सदी मेः वाणी प्रकाशन - 2000
[39] डॉ. धर्मवीरः कबीर नई सदी मेः वाणी प्रकाशन - 2000
[40] श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,प्रस्तावना, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
[41] भीमराव अंबेडकरः संविधान सभा में दिया गया भाषण, नवंबर 1949: सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2 सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन 2004
[42] भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, 1.12
[43] शंभुनाथः दुस्समय में साहित्य- परंपरा का मूल्यांकनः कबीर का सांस्कृतिक महाविद्रोहः वाणी प्रकाशन 2002
[44] Dr. Babasaheb Ambedkar : Revolution and Counter Revolution in Ancient India: Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)
[45] यहाँ अदृश्यतः का प्रयोग Latent के अर्थ में हुआ है
[46] सुमित सरकारः आधुनिक भारत का इतिहास 1857-1947 : राजकमल प्रकाशनः पहला छात्र संस्करणः 8 वीं आवृत्तिः हरिजन आंदोलन
[47] गीताः अध्याय-11(8)
[48] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[49] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[50] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[51] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[52] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन 1980
[53] विद्यापतिः कीर्त्तिलताः बाबूराम सकसेना
[54] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन 1979
[55] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980
[56] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका- भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन 1980
[57] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980
[58] रामशरण शर्माः प्राचीन में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ : परिशिष्ट 2 गोपति से भूपतिः राजकमल प्रकाशन, 5 वीं आवृत्ति 2001
[59] दामोदर धर्मानंद कोलांबीः प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता (अनु. गुणाकर मुले) वृहत्तर मगधमें राज्य और धर्म
[60] डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृषणनः भारतीय संस्कृति कुछ विचार
[61]रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ : 5 वीं आवृत्ति -2001: राजकमल प्रकाशन
[62] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –उपसंहारः राजकमल प्रकाशन 1980
[63] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः राजकमल प्रकाशन 1979
[64] नागार्जुन रचनावली-6 : मानस चतुःशताब्दी समारोहः मुक्तधारा, 6 एवं 30 मई तथा 20 जून 1970
[65] दूधनाथ सिंहः आखिरी कलामः देव-श्मशान

[66] शंभुनाथः दुस्समय में साहित्य – परंपरा का मूल्यांकनः कबीर का सांस्कृतिक महाविद्रोहः वाणी प्रकाशन 2002
[67] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः राजकमल प्रकाशन 1979
[68] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-उपसंहारःराजकमल प्रकाशन 1980
[69] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन 1979
[70] श्यामसुंदर दासः कबीर ग्रंथावली – सं. 13, 1975, पदावली-40 : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
[71] तुलसीदासः विनय पत्रिका
[72] रामविलास शर्माःपरंपरा का मूल्यांकनःसंत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ : राजकमल प्रकाशन,1981
[73] 'Convergence' के अर्थ में
[74] आशुतोष वार्ष्णेयः हिंदू मुस्लिम रिश्ते- नया शोध नये निष्कर्ष (अनुवाद अरविन्द मोहन) : राजकमल प्रकाशन 2005
[75] आशुतोष वार्ष्णेयः हिंदू मुस्लिम रिश्ते- नया शोध नये निष्कर्ष (अनुवाद अरविन्द मोहन) : राजकमल प्रकाशन 2005
[76] सुमित सरकारः आधुनिक भारत का इतिहास 1885-1947 : 8 वीं आवृत्ति 2001 : राजकमल प्रकाशन
[77]आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर –कबीर-उपसंहारःराजकमल प्रकाशन 1980
[78] इमानुएल काण्टः शुद्ध बुद्धि मीमांसा (अनुवादकः भोलानाथ शर्मा) : हिंदी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊः प्रथम सं. 1965
[79] नामवर सिंहः दूसरी परंपरा की खोज – भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोकधर्मः राजकमल प्रकाशन, सं-2, 1989
[80] श्यामसुंदर दासःकबीर ग्रंथावली सं.13-1975,पदावली-58, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी



आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक और इतिहास के सवाल



प्रफुल्ल कोलख्यान

'यदि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है तो मनुष्य के समान साहित्य भी स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील है। यदि मनुष्य की कोई स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती तो साहित्य की ही क्यों हो? आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदीजी ने अन्य आलोचकों की तरह 'कविता क्या है' अथवा

'साहित्य क्या है' जैसा लेख कभी न लिखा। साहित्य यदि तैयार माल नहीं है तो साहित्य की कोई तैयार परिभाषा भी नहीं हो सकती। साहित्य इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक अवधारणा है इसलिए साहित्य के बारे में यह कहा गया है कि वह इतिहास में पलता है। ..... वस्तुत: द्विवेदीजी की अलोचना में व्याख्या की भूमिका प्रधान नहीं है, प्रधान भूमिका है उद्धरणों के चयन की। प्रसंग के अनुकूल वे ऐसे उद्धरण चुनकर लाते हैं कि किसी अतिरिक्त युक्ति की आवश्यकता रह नहीं जाती। इस कला के क्षेत्र में वे अप्रतिम आचार्य हैं। जाने किस संदर्भ का छंद उठाकर लाते हैं और ऐसे नये संदर्भ में रखते हैं कि संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। इस प्रकार वे नये-नये जीवन-संदर्भों से कविता का अर्थ-विस्तार करते हैं। अब कोई इस बात के लिए उन्हें आलोचक मानने से इनकार करे तो अपनी बला से! आलोचना उनके लिए विश्लेषण का पर्याय नहीं है, परोपजीवी आलोचना के लिए हो तो हो।'[1]

- नामवर सिंह

1 इतिहास के सवाल और भारतीय संस्कृति : चुनौती और चर्या

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के सवाल को लेकर कई तरह की अवधारणाएँ सक्रिय थीं। इन अवधारणाओं में मतभिन्नताएँ तो थी ही, मतविरोध और आत्म-विरोध भी कम नहीं थे--- खासकर भारतीय इतिहास और संस्कृति के सवाल पर। ऐसा कुछ तो पश्चिम और पूरब के विद्वानों के सामने तथ्यों के पूरी तरह स्पष्ट नहीं रहने से अनुमान पर जरूरत से ज्यादा आश्रित हो जाने के कारणों से था, तो कुछ औपनिवेशिक हितबोध एवं अहितबोध से बनी इतिहास-दृष्टि के कारणों से था। कहा जा सकता है कि वह समय जटिलताओं और उलझावों को समझने और सुलझाने की चुनौतियों से भरा हुआ था। यही चुनौती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भी सामने थी। आज भी ये चुनौतियाँ बनी हुई हैं, हालाँकि इनके बाह्य-स्वरूप में बहुत परिवर्त्तन आ गया है, फिर भी इनकी अंतर्वस्तु में कोई बहुत अधिक परिवर्त्तन नहीं हुआ है। यह जरूर है कि हाल के विकास एवं नये तथ्यों और परिस्थितियों के सामने आने से उन चुनौतियों से जूझने के नये तौर-तरीके एवं बौद्धिक चर्या अनिवार्य बन गये हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विवेक को समझने की कोशिश के लिए चुनौती और चर्या के बदले हुए परिप्रेक्ष्य के इस संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है।

1.1 भारतीय विद्या और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतीय विद्या के महान ज्ञाता थे। प्राचीन भारत के ज्ञान-शास्त्र की लगभग प्रत्येक शाखा से उनका न सिर्फ गहरा परिचय, बल्कि गहरा लगाव भी था। कहना न होगा कि लगाव से एक तरह का मोह भी उत्पन्न हो ही जाता है। भारतीय विद्या मोह की इस स्थिति के प्रति कदम-कदम पर सावधान करती आयी है। संभवत: इसीलिए 'निर्लिप्तता' की इतनी बड़ी महिमा मानी गई है। पूरी विनम्रता के साथ यह कहना जरूरी है कि भारतीय विद्या से गहरा लगाव कई बार उन्हें मोहग्रस्त भी करता है। यह समझना जितना आसान आज है, उतना तब नहीं रहा होगा जब आचार्य काम कर रहे थे। आचार्य ने अपने समय में परंपरा के परिष्कार का बीड़ा उठाया था। चाहे जितनी सावधानी बरती जाये, अंतत: परंपरा 'पवित्र वन' ही ठहर जाती है। जड़ी-बूटियों से भरा ऐसा 'पवित्र वन' जहाँ हर झाड़-झँखार 'संजीवनी' प्रतीत होती है। यह प्रतीति कदम-कदम पर भरमाती है। इस प्रतीति के कारण बाघ की 'जलती आँख' रौशनी की खबर लगने लगती है। संस्कृति के सूत्रों में उलझावों का होना स्वाभाविक है। जो संस्कृति जितनी अधिक पुरानी होती है उसके सूत्रों में उलझाव भी उतने ही अधिक होते हैं। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति काफी पुरानी है और स्वभावत: इसमें उलझाव भी बहुत हैं।

1.2 भारतीय संस्कृति :रचाव और व्यवहार

रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता में इसकी बेहतर अभिव्यिक्त हुई है--- भारतीय संस्कृति पुरानी है, इतना ही नहीं विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के अंतर्विन्यासों के अंतर्मिलन से ऐतिहासिक विकास क्रम में इसका रचाव संभव हुआ है। यह कहते हुए अंतर्मिलन और अतिक्रमण का अंतर ध्यान में बराबर बना हुआ है। कहना न होगा कि राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ न सिर्फ संगामी बल्कि अंतर्संबंधित भी होती हैं। राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का वाद-विवाद-संवाद भूगोल का इतिहास बनाते हैं। ध्यान से देखने पर, भारतीय भूगोल के इतिहास की यह विशिष्टता परिलक्षित होती है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में अंतर्मिलानी तत्त्व का प्राचुर्य मिलता है जबकि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अतिक्रमण का तत्त्व अधिक सक्रिय प्रतीत होता है। यह समझना जरूरी है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंतर्मिलानी तत्त्व ऐतिहासिक रूप से भारत की सांस्कृतिक एवं वास्तविक सचाई है जबकि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अतिक्रमण के तत्त्व में सचाई तो है लेकिन इस अतिक्रमण की सचाई से बड़ी अतिक्रमण की प्रतीति है। यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जीवन में सचाई की अपनी भूमिका होती है तो प्रतीति की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती है। यह मानने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अक्सर सचाई को प्रतीति आच्छादित कर लिया करती है। इस तरह के आच्छादन से न सिर्फ सांस्कृतिक संबंधों की स्वनिहित जटिलता बल्कि स्पर्शकातरता भी बहुत बढ़ जाती है। स्वाभाविक है कि भारतीय संस्कृति

की आंतरिक उलझनों--- जो वैसे भी कम नहीं रही हैं--- को बौद्धिक औपनिवेशीकरण की कुचेष्टाओं और वि-औपनिवेशीकरण की छटपटहाटों ने और अधिक उलझाया एवं स्पर्शकातर बनाया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समक्ष ऐसी ही स्पर्शकातर उलझनों को न सिर्फ सावधानी से समझने और बरतने की चुनौती थी बल्कि एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में भारत की अगली यात्रा के लिए सांस्कृतिक रसद जुटाने की चुनौती भी थी। ध्यान में होना जरूरी है कि इन स्पर्शकातर उलझनों के कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भारतीय राष्ट्र अपने आधुनिक संघटन की कतिपय गंभीर संरचनागत समस्याओं के सम्मुख था।

1.3 आजादी का मतलब और आंदोलन

आजादी के आंदोलन के दौरान और आजादी प्राप्ति के बाद भी भारत के वृहत्तर समुदायों का मन इस राष्ट्र में अपनी जगह को लेकर काफी उहापोह में था। डॉ आंबेडकर के चिंतन में इसकी कुछ-कुछ झलक देखने को मिल सकती है। डॉ. आंबेडकर ऐतिहासिक रूप से तीन भारत का अस्तित्व मानते थे--- ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। वे यह मानते थे और बिल्कुल साफ लहजे में कहते थे कि 'यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासकि रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्तित्व कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है। .... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[2] इन तीनों भारत को मिलाकर एक आधुनिक भारत के बनने के लिए भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातर उलझनों को सुलझाने की चुनौती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय के सामने थी, उनके सामने भी थी। जाहिर है कि भारतीय संस्कृति की भिन्न-अभिन्न परंपराओं को उन्हें बार-बार परखना पड़ा।

1.4 भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातरता

भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातरता में तब की तुलना में कोई कमी नहीं आई है, बल्कि वह बढ़ी ही है। इन स्थितियों में बौद्धिक अन-उपनिवेशन की जरूरत भी बढ़ी है। इसलिए, 'भारतीयता' की खोज आज पहले से कम जरूरी नहीं है और इसीलिए सोचने-विचारनेवाले लोग कहते हैं कि 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव

ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आज खुद हमारी परंपरा हैं, तो उनके आलोचना विवेक की टोह लेना और इतिहास के अनसुलझे सवालों के प्रति समझदार रवैया विकसित करना भी आवश्यक है।

1.5 संस्कार, तर्क और तकनीक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विवेक के समक्ष इतिहास के क्या सवाल थे क्या चुनौतियाँ थीं इसे समझना आवश्यक है। फिर, यह देखना भी आवश्यक होगा कि उन चुनौतियों से जूझने की उनकी तकनीक क्या थी, कौशल क्या थे, उनकी तर्क-पद्धति और उनके तार्किक निष्कर्षों की आत्म-संगतियों को भी खँगाल लेना अपेक्षित होगा। कहना न होगा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में प्रमुख चुनौती बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की थी। इस चुनौती से मुक्ति के लिए भारतीय इतिहास और संस्कृति की खोई और टूटी हुई कड़ियों को खोजना और जोड़ने का मुश्किल और जोखिम भरा काम था। इस मुश्किल और जोखिम के क्षेत्र का फैलाव बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के औपनिवेशिक चट्टानों की अंतर्संघाती-रेखाओं (fault line) के बीच की गहरी खाइयों तक था। इतिहास और संस्कृति की ऐसी गहरी खाइयों में उतरना कम खतरनाक नहीं होता है। यह खतरा तब और ज्यादा बढ़ जाता है जब सिर के ऊपर अपने संस्कारों का न उतारे जाने लायक भारी बोझ भी लदा हो। कहना न होगा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहास और संस्कृति की गहरी खाइयों में अपने संस्कारों के भारी बोझ के साथ उतरने का जोखिम उठाते हैं। ये संस्कार प्राचीन एवं मध्यकालीन थे, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का युग आधुनिक था। कहना न होगा कि प्राचीन एवं मधयकलीन मूल्यों के साथ आधुनिक मूल्यों के टकरावों और प्राचीन एवं मध्यकालीन ऐतिहासिक सवालों के उलझावों को आधुनिक जरूरतों के अनुसार खोलने की चुनौतियों के बीच आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक विकसित होता है। बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की चुनौतियों से जूझने के लिए इतिहास की बिखरी हुई वास्तविक कड़ियाँ जहाँ प्राप्त न हो सकीं वहाँ अनुमान ही उपकरण था। अनुमान के लिए कल्पना का उपयोग आवश्यक हुआ। कल्पना का हाथ और साथ मिलते ही संस्कारों को अपना खेल दिखाने का भरपूर अवसर मिला। बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की चुनौतियों के सवाल मुख्यत: इतिहास के सवाल थे। इतिहास के सवाल के अंतस्साक्ष्य संस्कृति एवं साहित्य से जुटाने के लिए आलोचना का विवेक अनिवार्य तो होता है किंतु पर्याप्त नहीं होता है, उसके लिए गहरी इतिहास दृष्टि की भी जरूरत होती है। गहरी इतिहास दृष्टि के अभाव में इतिहास के पुराण बन जाने का खतरा पैदा हो जाता है। इतिहास दृष्टि के लिए सबसे

अधिक घातक तत्त्व है--- कल्पना। मुश्किल यह कि साहित्य के लिए यही कल्पना संजीवनी होती है! कैसी विडंबना है साहित्य और इतिहास बड़े निकट के रिश्तेदार हैं और यह कल्पना एक के लिए अमृत है तो दूसरे के लिए विष! जीवन भी कम विचित्र नहीं है। सिद्धांतों में अमृत और विष भले ही अलग-अलग पाये जा सकते हैं, लेकिन जीवन में ये अक्सर एक साथ ही हासिल होते हैं; जीवन को दोनों की जरूरत होती है। हमारा सांस्कृतिक अनुभव बताता है कि जिसके नाभिकुंड में अमृत के एकांश का सदावास था उसीके दिमाग में विष भी विराजमान था!

1.6 चिंता और चेतना के संदर्भ

आधुनिक भारत का गठन औपनिवेशिक वातावरण में हुआ। औपनिवेशिकता का प्रभाव इतना सूक्ष्म होता है कि पता भी नहीं चलता कि उसका कौन-सा तत्त्व किस तरह से प्रभावित कर रहा है। लोक-जागरण और नवजागरण के अंतर को भी ध्यान में रखना चाहिए। लोक-जागरण भारतीय समाज के आंतरिक दबाव से अनुप्रेरित था जबकि नवजागरण में बाह्य-औपनिवेशिक आकर्षण भी काफी सक्रिय था। यद्यपि बाह्य-औपनिवेशिक होने मात्र से उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता है, फिर भी उसकी कुछ ऐतिहासिक सीमाओं को नजरअंदाज करना उचित नहीं प्रतीत होता है। शायद यही कारण हो कि भारतविदों को नवजागरण से अधिक लोकजागरण, अर्थात भक्तिकाल रुचता है। लोकजागरण और नवजागरण की चेतना के बीच में है, 1857 की चेतना। लोक जागरण, 1857 और नवजागरण की चेतना की अंतर्संबंधों और अंतर्बद्धताओं का पुनर्अध्ययन अलग से और अधिक व्यापकता से किया जाना अपेक्षित है; यहाँ इतना ध्यान दिलाना ही पर्याप्त है कि मध्यकाल के लोकजागरण का राजनीतिक समाहार 1857 में हुआ। नवजागरण के राजनीतिक पक्ष को 1857 तो नहीं भाया इसके बावजूद नवजागरण की दीप्ति के आलोक में लोकजागरण की सांस्कृतिक आभा और बढ़ गई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का गहरा संबंध नवजागरण के प्रमुखों से था। जाहिर है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चिंता और चेतना का संदर्भ उनके इस गहरे जुड़ाव से तय होता था। क्या 1857 के हुए बिना नवजागरण को इतना अधिक राजनीतिक-प्रश्रय, शासकीय-संबल, बौद्धिक समर्थन और थोड़ा-बहुत भी सामाजिक प्रसार मिलना संभव था! इतिहास साक्षी है कि 1857 का बाह्य उपनिवेशी शक्तियों पर तो तीव्र असर हुआ ही आंतरिक उपनिवेशी शक्तियों पर भी इसका असर कम नहीं हुआ। यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि 1857 का नेतृत्व मुख्य रूप से उन समुदायों के सदस्यों के हाथ में था जिन समुदायों को आंतरिक उपनिवेश के लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार माना जाता है जबकि 1857 का मुख्य शक्ति-स्रोत वे समुदाय थे जो मुख्य रूप से आंतरिक उपनिवेश के सामाजिक शिकार थे। 1857 के इस अंतर्विरोध को ध्यान में रखने पर, यह देखना और भी दिलचस्प हो सकता है कि नवजागरण के आलोक में विकसित होते भारतीय राष्ट्रवाद का राजनीतिक एजेंडा किस प्रकार बदल गया एवं किस प्रकार स्थानापन्न राष्ट्रवाद विकासमान ऐतिहासिक राष्ट्रवाद से अधिक प्रभावी बन गया। फिर भी सामाजिक

मुक्ति और राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा की जो लौ 1857 में जली उसका आलोक आंतरिक उपनिवेशन के शिकार बने समुदायों तक भी अवश्य पहुँची, ऐसा मानकर चलने में कोई बौद्धिक असंगति नहीं दिखती है। यह सच है कि इतिहास को लौटाया नहीं जा सकता है और न वर्त्तमान की प्रक्रियाओं को अतिक्रमित कर भविष्य को ही पाया जा सकता है लेकिन वर्त्तमान की चोट से बौखलाये लोगों में इतिहास और भविष्य की तरफ लपकने की प्रवृत्ति अवश्य सक्रिय हो जाती है। गौर किया जा सकता है कि 1857 के बाद इतिहास के प्रति बौद्धिक रवैया में क्या और कितना फर्क आया। इतिहास का संपूर्ण न तो मरा हुआ होता है और न इतिहास के लिए वर्त्तमान कोई वर्जित प्रदेश ही होता है। इतिहास यदि शव हो तो साहित्य कहाँ पलेगा? शव-गर्भ में! न तो इतिहास शव होता है और न इतिहास का अध्ययन ही शवसाधना होती है। यह बात इतिहास के अंत की घोषणा करनेवलों की समझ में तो तब भी रही होगी और अब तो, दबे स्वर में ही सही, उनकी खुली आत्मस्वीकृतियाँ भी सामने आ रही है। इतिहास की तरफ आँख के घूमते ही भक्तिकाल--- जिसे सामाजिक क्रांति का युग माना जा सकता है--- की सामाजिक चेतना में राजनीतिक चेतना के संप्रसार का दृश्य भासमान होने लगता है। हिंदी क्षेत्र में यह संप्रसार उतनी तेजी से इसलिए नहीं हो पाया क्योंकि इस क्षेत्र की राजनीतिक प्रक्रिया पर 1857 का इतना अधिक राजनीतिक दबाव था कि एक ओर उसके पास भक्तिकाल की सामाजिक चेतना के कुमुक के इंतजार करने का समय नहीं था तो दूसरी ओर नवजागरण में अंतर्भुक्त लोकजागरण को स्वीकार करने का सामाजिक मन के बनने का अवसर भी नहीं था! नतीजा यह कि हिंदी क्षेत्र की राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया का सामाजिक प्रक्रिया से विच्छिन्न हो जाना लगभग अनिवार्य-सा हो गया। इस विच्छिन्नता के कारण हिंदी क्षेत्र की बौद्धिकता विकलांगता की शिकार हो गई।

1.7 बौद्धिक अन-उपनिवेशन

अपनी बौद्धिकता के बल पर जिन लोगों ने आंतरिक उपनिवेश रचा था उनकी बौद्धिकता का उपनिवेशित हो जाना कितना त्रासद रहा होगा इसका अनुमान बहुत कठिन नहीं है। जिन शास्त्रों के ज्ञान पर इतना नाज था वे शास्त्र ही बेमानी हो गये थे! राजनीतिक पराभव का ऐसा बौद्धिक आघात कितना दुस्सह्य रहा होगा इसका भी अनुमान बहुत कठिन नहीं है। इसीलिए, औपनिवेशिक शक्ति के चंगुल से--- खासकर बौद्धिक एवं सांस्कृतिक औपनिवेशिकता के चंगुल से--- छुटकारा पाने के लिए बाह्य-औपनिवेशिक शासन के जड़ जमाने के पहले के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक भारत की ओर देखना लाजिमी था। यही वह बिंदु है, जहाँ भारत का बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अवस्थान इतिहास के जादुई प्रिज्म में कैद होता है। इस अवस्थान में ऐसे सामाजिक तत्त्व भी कम नहीं हैं जो बाहरी उपनिवेश के साथ ही आंतरिक उपनिवेश के होने की भी पुष्टि करते हैं। बाहरी उपनिवेश का मुकाबला राजनीतिक आंदोलनों से और भीतरी उपनिवेश का मुकाबला समाज-सुधार के आंदोलनों के जरिये होना था। आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए समाज-सुधार के विभिन्न आंदोलनों

की झलकियाँ इतिहास में दर्ज हैं। बल्कि कहना यह चाहिए कि आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए भारत में समाज-सुधार के आंदोलन सदैव चलते रहे हैं--- ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण कभी सतह के ऊपर, तो कभी सतह के नीचे। हालाँकि, भारत की संस्कृति कहने से जो प्रमुख प्रतीति होती है, उसके प्रमुख बौद्धिक पक्ष का नि:शर्त्त समर्थन समाज-सुधार के आंदोलन को कम ही मिला है। इस सचाई को स्वीकारते हुए यह मानना पड़ेगा कि भक्ति-काल समाज-सुधार के आंदोलन और विरोध का सबसे प्रमुख काल है। भारतीय चिंता और चेतना को अंतर्वस्तु प्रदान करनेवाले चार मौलिक तत्त्वों की चर्चा की जाए तो उसमें आर्यों का मूल-स्थान, ब्राह्मण-वर्चस्व, बौद्ध-विमर्श और इस्लाम का अनुप्रवेश अनिवार्य रूप से शामिल रहेगा। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और उनके आलोचना विवेक को समझा जा सकता है।

2 ऐसा न हुआ होता, तब भी ऐसा ही हुआ होता

एक खास ऐतिहासिक परिस्थिति में विकसित इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक को दूसरी ऐतिहासिक परिस्थिति में विकसित इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक जब देखने-परखने की कोशिश करता है तो उनके निष्कर्षों में अंतर का आना स्वाभाविक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अलोचनात्मक विवेक को देखने की कोशिश दरअसल अपने आलोचना विवेक को दुरुस्त करने की ही कोशिश है। मुझे इस बात का ध्यान है।

2.1 लोक के आचार-विचार और लोकभाषा की ओर पांडित्य का झुकाव

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस्लाम के प्रमुख विस्तार को भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना तो मानते हैं किंतु फिर भी निष्कर्ष यही निकालते हैं कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार ओर भाषा के क्षेत्र में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी रेखांकित करते हैं कि ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। पेंच ‘अच्छी तरह’ में है; समझा जा सकता है कि जब ‘राजा’ का ही यह हाल था तो ‘प्रजा’ का क्या हाल रहा होगा। जब न ‘राजा’ संस्कृत जानता था, न ‘प्रजा’ संस्कृत जानती थी तब भी जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों को संस्कृत में लिखने की क्या विवशता थी? इस विवशता का पता नहीं चलता है। इस विवशता पर कोई साफ टिप्पणी नहीं करने की आचार्य की विवशता का भी पता नहीं चलता है! वे कहते हैं, ‘संस्कृत की कविताएँ लोक-भाषा के द्वारा बोधगम्य करायी जाती थीं और इस प्रकार मूल कविता का स्वाद कुछ बाधा पाकर राजा और सामंत तक पहुँचता था, पर अपभ्रंश की कविता सीधे असर करती थी। ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी

तरह समझ सकते हों। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश भाषा कविता का राजानुमोदित वाहन हो गयी। एक बार राजाश्रय पाकर वह बड़ी तेजी से चल निकली। यहाँ भी हम देखते हैं कि लोक-भाषा की ओर झुकाव स्वाभाविक रूप से ही हो चला था, किसी बाहरी शक्ति के कारण नहीं। ऊपर की बातों से अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था; यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था।'[4] अगर यह बात संगत है तो यह देखना दिलचस्प होगा कि खुद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पांडित्य का झुकाव किस तरफ था। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि अपनी भू-सांस्कृतिक परिस्थितियों के चलते 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय 'रक्षणशील' और 'पवित्र्याभिमानी' रहा है। भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष के कारण रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहने के बावजूद अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहने को बद्धमूल कर दिया। दूसरी तरफ वे कहते हैं कि ईसा की एक सहस्राब्दी बाद विचार में ही नहीं आचार में भी और भाषा के क्षेत्र में भी लोक की ओर उसका झुकाव स्वाभाविक था। यदि अपने संस्कृत-अज्ञान के कारण 'राजा' का और पंडितों का झुकाव लोक की ओर हुआ तो राजा और पंडितों को लोक के 'आश्रय' में जाना पड़ा; यह नहीं कि लोक को पंडितों के या राज के आश्रय में जाना पड़ा। सहज निष्कर्ष यह होना चाहिए कि 'राजा' और 'पांडित्य' को लोकाश्रय की जरूरत थी, और वह उसे मिला! लेकिन, इस तरह की असहज कर देनेवाली सहज बातों को दबाकर उलट देना ही तो असल पांडित्य होता है! ईसा की बीसवीं सदी और आजादी के बाद पांडित्य की यह मनोदशा है तो उसके आधार पर हजार वर्ष पहले की मनोदशा का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

2.2 फिर भी संस्कृत की महिमा अपरंपार

संस्कृत न राजा के लिए बोधगम्य था, न प्रजा के लिए व्यवहार्य लेकिन इसकी महिमा अपरंपार बनी हुई रही! हजारों पुश्त तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात इसकी सेवा में लगे रहे! यद्यपि, ईसा की एक सहस्राब्दी बाद विचार में ही नहीं आचार में भी और भाषा के क्षेत्र में भी लोक की ओर उसका झुकाव हो गया था तथापि उसके लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भी सर्वोत्तम मस्तिष्क संस्कृत की सेवा में लगे हुए थे! अपनी उल्लेखनीय 'चिंता पारतंत्र्य' के बावजूद! असल में

आचार्यों के दिमाग में यह बात सदैव जमी रही है कि संस्कृत में कम करनेवाला दिमाग ही सर्वोत्तम होता है। कुछ लोगों की कुछ-कुछ ऐसी ही धारणा आज अँगरेजी के बारे में है कि उत्तम मस्तिष्क अँगरेजी में ही काम कर सकता है, जनभाषाओं में उत्तम मस्तिष्क के लिए सम्मानजनक जगह ही कहाँ होती है! भगवान बन जाने के बाद बुद्ध का मुख, मुख नहीं रह गया होगा--- मुखारविंद हो गया होगा! भगवान के मुख से पालि का उच्चारण संदेह से परे तो हो ही नहीं सकता है! इसलिए, यह संदेह पांडित्योचित ही है कि उस युग की लोकभाषा कही जानेवाली पालि सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चारित भाषा थी या नहीं। हालाँकि संतुलन बनाये रखने की विवशता थी इसलिए इतना तो पंडितों को स्वीकार ही पड़ा कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वंद्वी भाषा का सामना करना पड़ा था। लोक के आचार-विचार और भाषा के प्रति झुकाव को स्वाभाविक मानना और फिर यह कहना कि प्रियदर्शी महराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। जिस लोक भाषा की ओर स्वाभाविक झुकाव था, उस लोकभाषा को भी दृढ़ता से प्रचार के लिए प्रियदर्शी महराज अशोक जैसे सम्राट की जरूरत थी! वह साहित्य पंडितों के लिए स्वीकार्य प्रमाण कभी हो ही नहीं सकता जो यह कहता हो कि बुद्धदेव ने न सिर्फ लोकभाषा में उपदेश दिया था बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत में रूपांतरित किये जाने का निश्चित निषेघ भी किया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'इस भाषा (संसकृत) में साहित्य की रचना कम-से-कम छह हजार वर्षों से निरंतर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रंथों के पठन-पाठन और चिंतन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है। फिर भी भाषा की समस्या इस देश में कभी उठी ही नहीं हो, सो बात नहीं है। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने संस्कृत के एकाधिपत्य को अस्वीकार किया था, उन्होंने लोकभाषा को आश्रय करके अपने उपदेश प्रचार किये थे। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वंद्वी भाषा का सामना करना पड़ा था। जहाँ तक बौद्ध धर्म का संबंध है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि उस युग की लोकभाषा कही जानेवाली पालि सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चारित भाषा थी या नहीं। प्रियदर्शी महराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। इसका सबूत हमारे पास है और सीलोन तथा वर्मा आदि में प्राप्त पालि भाषा का बौद्ध साहित्य भी हमें बताता है कि बुद्धदेव ने सिर्फ इस लोकभाषा में उपदेश ही नहीं दिया था बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत में रूपांतर करने का निषेघ भी किया था। यह साहित्य स्थविरवादियों का है जो कई बौद्ध संप्रदायों में से एक है। आधुनिक काल में बौद्ध साहित्य की जब चर्चा शुरू हुई थी तब इन पालि ग्रंथों को एक मात्र प्रमाण मान लिया गया था। और उस समय जो कुछ कहा गया था वह अब भी संस्कार रूप से बहुत से सुसंस्कृत जनों के मन पर रह गया है। परंतु सही बात यह है कि स्थविरवादियों का यह साहित्य विशाल बौद्ध साहित्य का एक अत्यंत अल्प अंशमात्र है। न तो वह एक मात्र

बौद्ध साहित्य है, और न सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य ही है, न यही जोर देकर कहा जा सकता है कि यही सबसे अधिक पुराना साहित्य है। ..... बहुत पुराने काल में हीनयान और महायान दोनों ही प्रधान बौद्ध शाखाओं के ग्रंथ संस्कृत अर्द्ध-संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। आज इनमें का अधिकांश खो गया है। ... इस प्रकार यद्यपि एक संप्रदाय की गवाही पर हम पालि को संस्कृत की प्रतिद्वंद्वी भाषा के रूप में पाते हैं, तथापि बहुत शीघ्र ही संस्कृत ने उस प्रतिक्रिया पर विजय प्राप्त कर ली थी। ... शुरू-शुरू में मुसलमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा हृदयंगम कर सके थे। पठानों के सिक्कों से नागरी अक्षरों का ही नहीं, संस्कृत भाषा का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। परंतु बाद में जमाने ने पलटा खाया और अदालतों और राजकार्य की भाषा फारसी हो गयी। इस देश के बड़े समुदाय ने नाना कारणों से मुसलमानी धर्म का वरण किया और फलत: एक बहुत बड़े समुदाय की धर्मभाषा अरबी हो गयी। यह अवस्था अधिक से अधिक पाँच सौ वर्षों तक रही है। परंतु आप भूल न जाएँ कि इस समय भी भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिंता का स्रोत संस्कृत के रास्ते ही बह रहा था। ... इस युग में यद्यपि संस्कृत ग्रंथों में से मौलिक चिंता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गयी थी। .... अर्थात हमारे छह सात हजार वर्ष के विशाल इतिहास में अधिक से अधिक पाँच सौ वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें अदालतों की भाषा संस्कृत न होकर एक विदेशी भाषा रही है। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंश में व्यवहृत भाषा का दावा आज हमारी भाषा समस्या का सर्वाधिक जबर्दस्त रोड़ा साबित हो रहा है। ....इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिये हुआ है उसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती--- फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।'[5]

पंडितों ने सिर्फ बुद्ध को ही भगवान नहीं बनाया बल्कि बुद्धवाणी को भी वेद बनाना चाहा---- संस्कृत में ढालकर। बार-बार यह बात महसूस की जाती रही है कि इस क्रम में बुद्ध तो बहुत हद तक भगवान विष्णु बना दिये गये, लेकिन बौद्धों को किसी न्यूनतम हद तक भी वैष्णव नहीं माना गया! अद्‌भुत बौद्धिक विचक्षणता का उदाहरण है यह कहना कि शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। असल बात तो यही हो सकती है कि शंकराचार्य ने बौद्ध तत्त्ववाद को बौद्धिक रूप से आच्छादित कर लिया। किसी भी ब्राह्मण-विरोधी विचार को 'देश की अद्वितीय महिमाशालिनी--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धष'--- भाषा संस्कृत में ढालकर उनके ब्राह्मणीकरण के बाद सामाजिक परिस्थिति के अनुकूलन में उपयोग करने, संरक्षित कर लेने की प्रविधि पंडितों के लिए बहुत कारगर रही है। असल में 'देश की अद्वितीय महिमाशालिनी, अविजित, अनाहत और दुर्द्धष' भाषा को न राजा समझता था न प्रजा--- शास्त्रों में निहित विचारों की मनमानी व्याख्या के लिए यह भाषा धोखे की ऐसी टट्टी बनाती थी जिसमें हर प्रभुत्व-संपन्न को

अपना हित सुरक्षित दिखता था! बुद्ध को इस खतरनाक 'पंडित प्रविधि' के चाल-चरित का ज्ञान जरूर रहा होगा तभी उन्होंने संस्कृत में अनुवाद का निषेध किया होगा। इस तरह, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं।' यह कैसा मंतव्य है कि धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति बौद्ध-धर्म के उद्भव के कारण उत्पन्न नहीं हुई! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गयी।' यह क्रांति, नहीं अभूतपूर्व क्रांति बौद्ध-धर्म के उद्भव से नहीं बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से हुई! इसी तरह के 'निश्छल आत्म-विश्वास' के साथ ब्राह्मण-धर्म की विशेषता को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता के रूप में स्थापित करने की भी कोशिश की गई है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापना है, 'सारे संसार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता है और विशेषता का कारण एक भारतीय विश्वास है। यह है पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धांत। प्रत्येक पुरुष को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। ... पुनर्जन्म का सिद्धांत वैसे तो खोजने पर अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में मिल जा सकता है, परंतु कर्मफल-प्राप्ति का सिद्धांत कहीं भी नहीं मिलता।'[6] तो जो विचार और साहित्य इस 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को नहीं माने उसे भारतीय मानने में ही झिझक स्वाभाविक है! यह है ऐतिहासिक विवेक और आलोचना दृष्टि!

2.3 चिंता पारतंत्र्य और पर का मतलब

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने दो बड़ी चुनौती थी--- पहली यह कि बुद्ध एवं महावीर के उद्भव के बाद ब्राह्मण-विरोध का जो ऐतिहासिक, दार्शनिक और सामाजिक वातावरण बना था उसके समग्र प्रभाव से बाहर निकलने के लिए ब्राह्मणों के द्वारा अपनाये गये कौशलों का औचित्य संस्थापन एवं महत्त्व-निर्धारण दूसरी यह कि इस्लाम के संसर्ग के प्रभाव से उत्पन्न ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक वातावरण में उस औचित्य-संस्थापन एवं महत्त्व-निर्धारण की प्रक्रिया के क्षरण को रोकना। अर्थात, 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में जो अभूतपूर्व क्रांति' उत्पन्न हुई थी उसकी लौ को बचाने की चुनौती थी! अपनी इसी ऐतिहासिक चुनौती के अंतर्गत भक्ति-साहित्य की व्याख्या की आलोचना दृष्टि उन्होंने विकसित की। 'मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुलपाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर

था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आँधी आई, उसमें ये सब मत बह गए। पर क्या एकदम मिट गए? लोकचित्त पर से क्या वे एकदम झड़ गए? हिंदी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरंभिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत-कुछ जाना जा सकता है।'[7] ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय--- जिनमें बौद्ध और जैन भी शामिल हैं--- दक्षिण से आई भक्ति की प्रचंड आँधी में 'बह' गये! यह तो हद ही है! या फिर क्या पता कोई उलटबाँसी ही हो!

2.4 प्रतिभा का प्रमाण

पंडित थे तो बुद्धि और प्रतिभा तो होनी ही थी ! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि चिंता-पारतंत्र्य 'मुसलमानी धर्म' के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था! 'पर' के साथ ऐसी भाषा का प्रयोग करने में पांडित्य को कभी हिचक नहीं होती है। 'असल में जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभा का तो काफी विकास हुआ, परंतु यह निश्चित रूप से विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीनों के ज्ञान से निम्न कोटि का है। इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक भाव फैला हुआ-सा जान पड़ता है कि बिना इसका सहारा लिये कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता। ईसा की पहली सहस्राब्दी में ही इस मनोभाव ने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोत्तर बद्धमूल होता गया। यहाँ स्मरण कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह चिंता-पारतंत्र्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्त्ती हिंदी साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी, बिल्कुल गलत होगा। असल में, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिंता में इस चिंता-पारतंत्र्य को जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं।'[8] क्या उस युग में प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सिर्फ सहारा लिया जा रहा था? कोई चुनौती नहीं दी जा रही थी? यह संभव तो नहीं है। तब यह जरूर संभव है कि जो प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा नहीं लेता होगा उसे पंडितों के समकक्ष मानने का 'औचित्य' नहीं रहा होगा। आचार्य लोग आज भी नहीं मानते, तब की तो बात ही और थी! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'वस्तुत: परवर्ती काल में समस्त भारतीय चिंतन और आचरण के निर्णायक के रूप में गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों को ही प्रमाण माना गया है। इन्हीं को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। दर्शन के क्षेत्र में अर्थात जीव और ब्रह्म का स्वरूप, उनका संबंध, माया या ब्रह्म-शक्ति के व्यापार आदि बातों में मतभेद बराबर बने रहे, परंतु संपूर्ण जीवन के प्रति जो व्यापक दृष्टि है वह बारबर एक-सी

बनी रही। बौद्ध और जैन परंपरा के अभ्युदय से भी उस जीवनदृष्टि में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। केवल दीर्घ अनुभव और तदनुकूल परिष्कृत धर्माचार के इस पक्ष या उस पक्ष पर बले देने के कारण इनके स्वरूप में कुछ अंतर दिखाई देता है।'[9] क्या अद्भुत निष्कर्ष है -- बौद्ध और जैन परंपरा के अभ्युदय से भी उस जीवनदृष्टि में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। इस निष्कर्ष को ठीक माना जाये तो भक्तिकाल में व्याप्त शास्त्र और लोक के द्वंद्व एवं जीवनदृष्टि को किस तरह व्याख्यायित किया जा सकेगा!

2.5 लोकभाषा को राजकीय सम्मान

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने इस्लाम के आगमन के सांस्कृतिक प्रभाव को न्यून और अंततत: अदृश्य साबित कर देने की चुनौती थी। इसके लिये सांस्कृतिक बहिष्करण की सामाजिक प्रक्रिया की वास्तविकता को सांस्कृतिक समूलियत या नत्थीकरण की काल्पनिक प्रक्रिया से आच्छादित करना जरूरी था। समाज में साफ दिखनेवाली स्थिति को अदृश्य बनाना शास्त्र में अदृश्य बनाने जितना आसान नहीं होता है। सत्ता और शास्त्र पर कब्जा करना जितना आसान होता है समाज पर कब्जा करना उतना आसान नहीं होता है। समाज में समूलियत के लक्षणों को अदृश्य बनाना संभव नहीं था इसलिए सत्ता और शास्त्र में इसे अदृश्य करने का प्रयास ही एक मात्र रास्ता हो सकता था, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी रास्ते का अनुसरण करते हैं। ब्राह्मण यदि संस्कृत के अलावे किसी अन्य भाषा का आश्रय लेता है तो वह अपने को छोटा क्यों समझेगा! छोटे- बड़े का स्थान भाषा के व्यवहार से नहीं सामाजिक अवस्थान से तय होता है। इन कवियों के सामाजिक अवस्थान से बात स्वत: साफ हो सकती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस संपूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कवि नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चंद बलिय (चंद वरदाई) हिंदी भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में यह अपभ्रंश का अंतिम कवि अधिक है और हिंदी का आदि कवि कम। .....असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश दोनों में काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है जबकि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषा से नहीं बल्कि सूरदास-तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्यभाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे।

ऐसा न होता, तो कबीर और दादू की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था। असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गयी। बौद्ध धर्म का प्रसार साधारणत: विदेशियों में ही अधिक हुआ, क्योंकि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैन-धर्म का प्रभाव भी अधिकांश में शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियों पर ही पड़ा होगा, जो धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर इस देश में प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था। इस समय के ऐसे बड़े-बड़े राजे, जो अधिकांश में क्षत्रियत्व का पद प्राप्त करने के प्रयासी रहे होंगे, ब्राह्मण आचार्यों के प्रभाव में आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषा को बहुत बल मिला। जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों की सहायता ली गयी। वे संस्कृत में लिखे गये थे। कथावाचक इनकी व्याख्या लोकभाषा में करते होंगे, पर उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता रही होगी। फिर, जैसा कि श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने कहा है, इसी समय संस्कृत भाषा के प्रचार में शंकर मत की विजय से सहायता मिली होगी। शंकराचार्य का उत्कर्ष ईसा की आठवीं शताब्दी के आसपास हुआ। उनके मत की छाप सर्वसाधारण पर पड़ी। उक्त मत का प्रसार संस्कृत भाषा के द्वारा ही होने के कारण सर्वसाधारण की भाषा में संस्कृत शब्द आ गये और धीरे-धीरे संस्कृत से हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि संस्कृत प्रचुर भाषाएँ बनीं। तमिल आदि भाषाओं का इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदास की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होना, अपभ्रंश भाषाओं के स्वाभाविक विकास के विरुद्ध नहीं ले जाता और न इससे उनमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव ही सिद्ध होता है।'[10] यह मानना कि बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में कोई क्रांति उत्पन्न हो गयी या यह मानना कि बौद्ध धर्म का प्रसार साधारणत: विदेशियों में ही अधिक हुआ, अपनेआप में असंगत और इतिहास-विरोधी है। सिर्फ इसलिए कि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं मानते थे, इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके--- यह बात समझ से परे है। इस देश में 'क्षत्रियत्व' और 'वैश्यत्व' का पद देना बौद्ध और जैन-धर्म के हाथ में तो था नहीं फिर उनके प्रभाव में आये शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासी कैसे धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे! यह ठीक है कि सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर शंकराचार्य के आगमन के बाद प्राचीन वैदिक धर्म एक बार फिर उठने की कोशिश करता है, बड़े जोरों से उठ खड़ा नहीं हो जाता है! कहना न होगा कि प्राचीन वैदिक धर्म मूलत: शास्त्र-मत पर आधारित था जबकि सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद सभी संप्रदाय, शास्त्र और मत लोकमत में घुलने को बाध्य हुए। 'महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता

स्वीकार करता गया, यहाँ तक कि अंत में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी संप्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानों के संसर्ग से उसका कोई संपर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पंडितों के ऊँचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप मे हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिंदी साहित्य है।'[11] लोकमत में घुलना-मिलना क्या लुप्त हो जाने का प्रमाण हो सकता है? लोकमत में घुलने से जहाँ लोक-चित्त में बदलाव आया वहीं शास्त्र के आत्म-चरित में भी कम बदलाव नहीं आया। यह शास्त्र के आत्म-चरित में बदलाव का ही परिणाम है कि बौद्ध धर्म का उच्छेदक माने जानेवाले खुद शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया। यह कैसे हुआ? असल में शंकराचार्य ने बौद्ध तत्त्ववाद के मूलांश का बहुत ही कुशलता से वैदिकीकरण किया इससे बौद्ध धर्म को वैदिक परिधि में समेट लेना संभव हुआ! पंडितों की नजर से यह बात छिपी कैसे रह सकती थी! जिस भक्ति की इतनी महिमा बताई जाती है, शंकराचार्य का मत उस भक्ति का समर्थन नहीं करता है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति-आंदोलन के सूत्रपात का प्रेय और श्रेय शंकराचार्य को देते हैं; यह सीधे संभव नहीं था, तो उलटकर ही सही! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दशवनार्क मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया।' [12] यह ठीक है कि 'प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था', लेकिन 'प्राचीन भागवत धर्म' के प्रचारित और प्रचलित होने में बुद्ध के वैष्णवीकरण और इस प्रकार से बौद्ध धर्म का जो योगदान था उसकी चर्चा खुले मन से और सीधे-सीधे न करना किस प्रकार के ऐतिहासिक विवेक और सत्य का निदर्शन करता है! सत्य तो 'अश्वत्थामा हतो' में भी निहित था, मगर क्या सचमुच था! राजनीति का विवेक भले ही अर्द्धसत्य को मूल्यवान मानता हो, लेकिन आलोचना का विवेक!

3 हिंदू और बौद्ध

वैदिक एवं बौद्ध धर्म के संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझे बिना भारतीय संस्कृति को रत्ती भर भी जानना संभव नहीं है। संबंधों पर विचार तो बहुत हुआ है, स्वीकार और अस्वीकार का साहस भी बहुत दिखाया गया है, फिर भी ऐसा कुछ कपच लिया जाता है कि बस सही

परिप्रेक्ष्य नहीं मिल पाता है। ईमानदारी से इन संबंधों को समझने और इनकी जटिलताओं को खोलने का सांस्कृतिक प्रयास किया जाता तो भारत की बहुतेरी सामाजिक समस्याओं का समाधान का रस्ता स्वत: हो साफ जाता। असल में ऐसा नहीं हुआ तो उसके लिए राजनीतिक कारण ही जबावदेह हैं।

3.1 टकराव और द्वंद्व

जो लोग भारत की सामाजिक समस्याओं को राजनीतिक समस्या मानते हैं, वे कदाचित रोग को अधिक सही ढंग से समझते हैं! बौद्ध धर्म के अवदान को सहज मन से स्वीकारने के लिए सत्ता और शास्त्र से जुड़ा बौद्धिक प्रभुवर्ग कभी तैयार न हुआ। बौद्ध धर्म को हमेशा के लिए 'द अदर' बनाये रखने और सांस्कृतिक संघर्ष का वातावरण बनाये रखकर समाज में हितों के टकराव समूहों को सक्रिय रखने में ही उसकी दिलचस्पी रही। 'बाँटो और राज करो' जैसे सिद्धांत का अंग्रेजों ने इस देश में न सिर्फ इस्तेमाल किया बल्कि इस सिद्धांत की उच्च तकनीक भी उन्होंने यहीं सीखी। इस देश से बौद्धों का निर्वासन हुआ या इस देश की मूल चेतना में बौद्ध दर्शन का अंतरलयन हुआ! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। .....पर उन्होंने निचले स्तर के आदमियों में जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें नाम-रूप का परिवर्त्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और करोड़ों की संख्या में जनता आज भी उन मठों के महंतों की पूजा करती आ रही है।'[13] जहाँ-जहाँ बौद्ध मठों पर शैव मठों के रूप में कब्जा संभव हुआ या जहाँ-जहाँ वैदिक धर्म के परिसर में अंतर्भुक्त भागवत धर्म के रूप में प्रकट होने में सफल हो सका वहाँ-वहाँ वह नाम-रूप बदलकर जीवित रह सका। ध्यान में होना ही चाहिए कि बुद्ध के प्रभाव के कारण ही 'उपेंद्र' (विष्णु) इंद्र से बड़े हो गये! जहाँ आर्यों का प्रभाव अधिक था वहाँ बुद्ध मत को सफलतापूर्वक दबा दिया गया लेकिन जहाँ आर्यों का दबदबा नहीं था वहाँ सहअस्तित्व कायम हो सका। इसलिए, 'नेपाल में इन दिनों जो बौद्ध धर्म वर्तमान है, वह बहुत कुछ उसी ढंग का होना चाहिए जैसा कि किसी समय वह बंगाल और मगध में रहा होगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल-क्रम से हिंदीभाषी जनसमुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। सन् 1324 में तिरहुत का एक राजा मुसलमानों से खदेड़ा जाकर नेपाल में जा पहुँचा। वह अपने साथ अनेक पंडितों और ग्रंथों को भी लेता गया।

उसका राज्य वहाँ बहुत दिनों तक स्थिर तो नहीं रह सका, पर उसके, द्वारा ब्राह्मण धर्म का जो बीजारोप हुआ वह आगे चलकर बहुत विकासशील सिद्ध हुआ। परवर्ती राजा जयस्थिति ने इन्हीं ब्राह्मणों की सहायता से समाज का पुन:संगठन किया। इस प्रकार नेपाल के राजघराने के प्रयत्न से गुरखा लोग, जो वहाँ के प्रधान वाशिंदे थे, अपने प्राचीन धर्म को फिर से ग्रहण करने में समर्थ हुए, पर नेवारी लोग बौद्ध ही बने रहे। इस नेपाली बौद्ध धर्म का प्रधान रूप है 'आदि-बुद्ध' की पूजा। आदि-बुद्ध बहुत कुछ हिंदुओं के भगवान के समान ही हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि नेपाल के ब्राह्मण बौद्ध धर्म को शत्रु दृष्टि से नहीं देखते। नेपाल-माहात्म्य के अनुसार जो बुद्ध की पूजा करता है वह शिव की ही पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का स्वयंभू-पुराण पशुपतिनाथ की पूजा को बुद्ध की ही पूजा मानता है। बहुत संभव है कि काशी और मगध के प्रांतों में भी अंतिम दिनों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों का पारस्परिक संबंध ऐसा ही रहा हो।'[14] इस प्रकार भक्ति के साथ बौद्ध धर्म का गहरा संबंध साबित है। ऐसी स्थिति में यह मानना चाहिए कि भक्ति और धर्म में एक प्रकार का द्वंद्वात्मक रिश्ता रहा है। इस द्वंद्व को नजरअंदाज करना ऐतिहासिक विवेक का नहीं ऐतिहासिक चूक का ही उदाहरण हो सकता है।

3.2 बौद्धों का नजरिया

जहाँ तक बौद्धों की बात है, वे टकराव की मन:स्थिति में तो तब भी नहीं थे जब उन्हें सशक्त राजसमर्थन हासिल था। डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया।'[15] आगे (नीकम एवं मैककियोन के संदर्भ से) 'एडिक्ट्स आफ अशोक' , शिलालेख- 12 में अशोक की घोषणा का वे उल्लेख करते हैं। इस उल्लेख के अनुसार, 'सम्राट प्रियदर्शी इच्छा करते हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धांतों को जानें और उचित सिद्धांतों की उपलब्धि करें। जो इन विशिष्ट मतों से संबद्ध हैं, उनसे कह दिया जाना चाहिए कि सम्राट प्रियदर्शी उपहारों एवं उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना उन गुणों की वृद्धि को देते हैं जो सभी धर्मों के आदमियों के लिए आवश्यक है।'[16] अपनी इस समवायी दृष्टि--- इसका प्रमाण कबीर समेत संपूर्ण निर्गुण परंपरा में आश्चर्यजनक रूप से मिलता है--- के बावजूद बौद्ध परंपरा निरंतर आक्रांत की जाती रही है! कबीरदास की तुलना में तुलसीदास को समन्वय का बहुत अधिक श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है, लेकिन तुलसीदास और कबीरदास के समन्वय के चरित्र पर विचार ही नहीं किया है! सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप से देखा जाये तो तुलसीदास के समन्वय से कबीरादस के समवाय का आकाश अधिक विस्तृत है। (देखें 7.3)

3.3 आक्रांत और आक्रांता

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'जिन दिनों हिंदी साहित्य का जन्म हो रहा था उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े-बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे, जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव फैलाते रहे। नेपाल में तो अब भी बौद्ध धर्म किसी-न-किसी रूप में प्राप्त हो जाता है, पर अत्यंत हाल में बंगाल, उड़ीसा, और मयूरभंज की रियासत में बौद्ध गृहस्थों के दल पाये गये हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथ का मंदिर पहले बौद्धों का था, बाद में बुद्ध मूर्त्ति के सामने किसी वैष्णव राजा ने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हें वह भी बुद्धदेव के अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है! उड़ीसा का महिमा संप्रदाय, बंगाल के रमाई पंडित का शून्य पुराण, वीरभूमि में पाई जानेवाली धर्मपूजा आदि बातें भी आज भी इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के भग्नावशेष हैं।'[17] यदि जगन्नाथ का मंदिर बौद्धों का था और जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हैं वह भी बुद्धदेव के अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है, तो इसका भी दोष क्या मुसलमानों के मत्थे मढ़ दिया जाना चाहिए! इतिहास का यह कौन-सा विवेक है जो यह स्थापित करना चाहता है कि 'मगध और बंगाल में मुसलमानी धर्म के आक्रमण से बौद्ध और हिंदू मंदिर समान रूप से आक्रांत हुए; मंदिरों, मठों और विहारों को समान भाव से ध्वस्त किया गया। फिर भी पौराणिक धर्म बच गया, बौद्ध नहीं बच सका; क्योंकि पहले का संबंध उन दिनों समाज से था और दूसरे का केवल विहारों से।'[18] क्या सचमुच बौद्ध धर्म का संबंध केवल विहारों से था! समाज से नहीं था! ऐसा होता तो मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित और अमिट पद-चिह्न कैसे छोड़ पाता, जिसे 'संत-साहित्य' नाम दिया गया है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध तत्त्ववाद, जो निश्चित ही बौद्ध आचार्यों की चिंता की देन था, मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है, जिसे 'संत-साहित्य' नाम दिया गया है। .....शास्त्र-सापेक्ष भक्तों के अवतारवाद का जो रूप है, उस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं कि प्राचीन हिंदू-चिंता से उसका संबंध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है, वह प्राचीन चिंताओं से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, कनेडी आदि पंडितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था! उनकी समझ में नहीं आ सका था कि ईसाई धर्म के सिवा उस प्रकार के भाव और कहीं से मिल सकते हैं। लेकिन आज शोध की दुनिया बदल गयी है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है, क्योंकि बौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है, और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के

उत्तरी प्रदेशों में आये थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे! लेकिन ये आवांतर बातें हैं। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमश: लोक धर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिंदी साहित्य में पाते हैं। इतने विशाल लोक धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिंदी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।'[19] हिंदू शब्द और अवधारणा दोनों ही बुद्ध के बहुत बाद की वस्तु है, फिर यह 'प्राचीन हिंदू-चिंता' से क्या तात्पर्य हो सकता है! सही बात तो यह है कि जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पौराणिक धर्म कहते हैं वह लोक के कारण नहीं राज के कारण बचा। बौद्धों को तो सबसे अधिक आघात पौराणिक धर्म के पुरोहितों की राजसमर्थित कूट चाल से लगा। पौराणिक धर्म और इस्लामिक सत्ता की दोहरी मार झेलकर भी बौद्ध समाप्त नहीं हो गये, बल्कि संतों और सूफियों की वाणी में अभिव्यक्त हुए। नामवर सिंह ठीक ही कहते हैं कि 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।'[20] शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व कहकर चुप हो जाने से बात पूरी नहीं हो जाती है। कहना आवश्यक है कि 'शास्त्र' का सीधा अर्थ वेद है और 'लोक' का अर्थ बुद्ध है। भक्ति साहित्य में यदि 'हतदर्प पराजित जाति' के लक्षण नहीं हैं तो इसका श्रेय निर्वासित मान लिए गये बौद्ध मत की सामाजिक अंत:सक्रियता को मिलना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'बिहार में बोद्ध धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपंथ में हो गया था, यह बात मैंने अन्यत्र दिखाई है।'[21]

3.4 भारत में इस्लामिक सत्ता के आगमन से पहले का नैतिक संघर्ष

आंबेडकर ने लक्षित किया था कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है। मुसलमानों के वर्चस्व के बाद इस संघर्ष का क्या हुआ? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी याद दिलाते हैं कि 'स्मरण रखने की बात है कि हिंदू धर्म ईसाइयों के धर्म की भाँति बड़े-बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियंत्रित नहीं था (जैसा कि पोपों के रोमनचर्च द्वारा ईसाई धर्म नियंत्रित होता था) और न मुसलमानी धर्म के समान सामाजिक भ्रातृभाव के आदर्श द्वारा सुसंगठित ही था। असल में जिस अर्थ में मुसलमान या ईसाई धर्म है वह अर्थ हिंदू धर्म के लिए कभी लागू नहीं हो सकता। दक्षिण में शंकराचार्य और मध्वाचार्य के संप्रदायों के सुसंगठित मठ हैं, पर उनका भी प्रभाव उस जाति का नहीं है जैसा रोमन चर्च का। हिंदुओं की प्रत्येक जाति को अपने आचार-विचार को स्वतंत्र भाव से पालन करने की स्वतंत्रता थी। अगर समूची की समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को स्वीकार कर लेती थी तो चातुर्वर्ण्य में भी उसकी गणना कर ली जाती थी। हिंदुओं की ये जातियाँ आचार-विचार में ब्राह्मणों तथा अन्य श्रेष्ठ जातियों की नकल किया करती थीं और समय-समय पर ऊँची पदवी भी पा जाया करती थीं। हिंदुओं में धर्म परिवर्तन कराने की कोई प्रथा

नहीं थी, पर इतिहास से ऐसी सैकड़ों प्रकार की जातियाँ खोज निकाली जा सकती हैं जो समूह रूप में एक ही साथ ब्राह्मण धर्म में शामिल हो गयी थीं। यह एक प्रकार से सामूहिक धर्म परिवर्तन ही होता था। तो जो बात मैं कहने जा रहा था वह यह है कि बौद्ध धर्म के लोप होने के बाद ऐसी बहुत-सी जातियाँ ब्राह्मण धर्म के अंदर आ गयी थीं। इन जातियों के आने के कारण बहुत-से व्रत, पूजा, पार्वण आदि इस धर्म में आ घुसे, जिनकी प्राचीन ग्रंथों में कोई व्यवस्था नहीं थी।'[22] समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को यों ही स्वीकार कर लेती रही होगी! असल में मुसलमानों के वर्चस्व के बाद ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष को एक नया आयाम मिला। इसके कारण कुछ जातियों ने ब्राह्मण-धर्म को स्वीकार कर लिया तो कुछ ने इस्लाम को। ब्राह्मणवादियों के प्रभुत्व और मुसलमानों के वर्चस्व के दो पाटों के बीच में बौद्धवाद पिसकर रह गया! संस्कृति की इस चलती चक्की के दो पाटों में फँसने का दुख कबीर ने झेला था, रोया भी कम नहीं था--- 'चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय। दुइ पट भीतर आय के, साबित गया न कोय।।'[23] ध्यान रहे, ये वही कबीर हैं जिनके साहित्य में बौद्ध-चेतना का 'विलयन' हुआ था!

4 संस्कृति के शक्तिशाली और मौलिक अंश के रूप में भक्ति साहित्य

क्या बौद्ध धर्म आज जीवित नहीं है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि बौद्ध धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपंथ में हो गया। सही बात तो यह है कि बौद्ध धर्म आज भी जीवित है और बौद्ध धर्म के कबीरपंथ में विलीन हो जाने की बात में विलयन दर्शाने का पांडित्योचित उत्साह कुछ अधिक ही है। बौद्ध धर्म का प्रभाव जरूर कबीर साहित्य में अंतरित हुआ। यहाँ जोर देकर कहना जरूरी है कि कबीर साहित्य और कबीरपंथ के अंतर को जाने-अनजाने भुला देने से बौद्धिक विवेचन की मूल दृष्टि में ही भारी गड़बड़ी हो जाती है। बात इतनी है कि कबीर के माध्यम से भक्ति का जो स्रोत निकलता है उसके पीछे बौद्ध परंपराओं का तात्त्विक योगदान है। यहाँ यह टाँक रखना भी उचित है कि धर्म और भक्ति में बहुत अंतर है। (देखें 5) धर्मों के रहते यदि भक्ति की जरूरत खड़ी हो गई तो दोनों के अंतर को समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। भक्ति को सीधे अर्थों में धर्म के परिसर के भीतर में समझना या धर्म के परिसर में सीमित कर देना ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से घातक है। भले ही तुलसीदास ने 'अगुनहिं, सगुनहिं नहिं कछु भेदा' की घोषणा की हो लेकिन सचाई यह है कि निर्गुण और सगुण परंपरा में बहुत भारी भेद है। बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष भक्ति साहित्य में निर्गुण और सगुण के रूप में प्रकट हुआ। जिस प्रकार शंकराचार्य और कुमारिल ने बुद्ध चेतना को आच्छादित करने की चेष्टा की ठीक उसी प्रकार सगुणियों ने (खासकर तुलसीदास ने) निर्गुणियों की चेतना

(खासकर कबीर चेतना) को आच्छादित करने की चेष्टा की। भारतीय समाज में हिंदू-मुस्लिम-संबंध पर चर्चा करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' भोपाल के राज-पुस्तकालय में मौजूद हुमायूँ के लिए बाबर के लिखे वसीयतनामे के हवाले से बताते हैं कि बाबर ने हुमायूँ को संबोधित करते हुए कहा कि 'हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअस्सुब से काम न लेना; निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना।'[24] बाबर के लिखे वसीयतनामे का हुमायूँ ने कितना और कितनी दूर तक पालन किया यह अलग से विवेच्य है लेकिन, 'एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता है कि उस समय भी सवर्ण कवियों की वाणी में और उदात्त चेतना चाहे जितनी हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही दिखता है। यह महज संयोग नहीं है। इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। परीक्षा की जानी चाहिए कि धर्म पर आधारित भारतीय राजनीति की जिस संरचना से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बहुत खतरा है, उस संरचना का कितना अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित हैं।'[25] जिस आँख से इतिहास को देखा जाता है, उस आँख को ज्योति तो वर्तमान से ही मिलती है।

4.1 बौद्ध धर्म और भक्ति

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिंदी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया संतों की जाति-पाँति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खंडन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है। किसी-किसी ने तो कबीरदास आदि की वाणियों को 'मुसलमानी हथकंडे' भी बताया है! ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छंद और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप धारण करता है, पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाज को ये भक्ततगण सुधारना चाहते थे उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उनहोंने लक्ष्य भी किया था। परंतु इन सबका अर्थ यह नहीं है कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव इस साहित्य पर नहीं पड़ा है। यह कहना

अनुचित है। एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य के सुवर्ण-काल में भी इस प्रकार के विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परंतु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में यह प्रभाव 'प्रभाव' रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।'[26] कालिदास की कविताएँ दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक नहीं थी, न हो सकती थी, क्योंकि खुद 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृति (संस्कृत) के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृति (संस्कृत) के कवियों ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'[27] भक्ति की मूल चेतना को धर्म से जोड़ दिये जाने के कारण सारी गड़बड़ियाँ हुई हैं। धर्म भक्ति का ऊपरी आवरण जरूर है लेकिन उसके भीतर की मनो-शारीरिक संरचना समतामूलक सामाजिक अधिकार के लिए हजारों साल से चल रहे सांस्कृतिक संघर्ष के तत्त्वों से बनी है। शंकर और कुमारिल के प्रभाव में जो बुद्ध के साथ हुआ (देखें 2.2) वही कबीर के साथ भी हुआ तो क्या आश्चर्य! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत निकल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास, आदि जितने प्रमुख संत हुए, सब ने कबीर का अनुकरण किया अपना अपना अलग मत चलाया। ...सबने नाम, शब्द, सद्‌गुरू आदि की महिमा गाई है और मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जातिपाँति मिटाने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्त्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं और उनके मतों में भी कर्मकांड घुस गया है।'[28] कबीर के पीछे जो संतों की बाढ़-सी (बाढ़ का आना अच्छी बात तो नहीं होती है!) आ गई उस बाढ़ में सिर्फ द्विजेतर ही क्यों थे जबकि हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रणेता द्विज ही क्यों थे! सगुण भक्ति तो हिंदू जीवन में व्याप्त थी और निर्गुण! निर्गुण क्या हिंदू जीवन की व्याप्ति से बाहर की वस्तु थी! क्या सही ऐतिहासिक दृष्टि और जाग्रत आलोचना विवेक का निष्कर्ष है! असल में, बाढ़ तो 'सगुण भक्ति' की आई थी जो अपने बहाव में 'निर्गुण भक्ति' की चेतना को बहाकर ले गई और छोड़ गई बाढ़ के बाद का ढेर सारा कचरा।

4.2 भक्ति आंदोलन का प्रारंभ

यह बात तो मशहूर ही है कि 'भक्ति द्राबिड़ ऊपजी, लाये रामानंद'। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दर्ज करते हैं कि 'सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्त्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम-से-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण में आज की भाँति ही जाति-विचार अत्यंत जटिल अवस्था में था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, इन जाति-विचार-शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं लेकिन समाज के व्यवहार में जाति-भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग भोजन करेगा, क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति-भोजन में ही उठता है। इसी को दक्षिण में 'तेन कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पंद्रहवीं शताब्दी में वेदांतदेशिक ने वेदवाद और प्राचीन रीति को पुन: प्रवर्त्तित किया। इसी को वेदवाद या 'वेद कलाई' कहते हैं। 'तेन कलाई' वालों ने विवाह में होम और विधवा का मस्तक-मुंडन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदांतदेशिक ने पुनर्वार इन आचारों को जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज था, जो क्रमश: शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह हम ठीक से नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहाँ तक दार्शनिक रूप दिया है।'[29] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यह तो ठीक कहते हैं कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी (यह 'भी' महत्त्वपूर्ण होने के कारण अतिरिक्त रूप से ध्यान देने योग्य है) जनसाधारण की चीज था लेकिन साथ ही यह कहना ठीक नहीं है कि सारे भारतवर्ष में फैलने के पीछे शास्त्रों का सहारा था। क्योंकि जो भक्तिमतवाद जनसाधारण की चीज था उस भक्तिमतवाद का अ-साधारणजनों के शास्त्रों से द्वंद्वात्मक और टकराव का रिश्ता था। शास्त्रों ने 'तेन कलाई' को पुनर्वार 'वेद कलाई' में बदल दिया, यह तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी बताते हैं। जो शास्त्र खुद लोक भूमि पर प्रतिष्ठित होने के लिए प्रयासरत था वह लोकमत को क्या सहारा देता! कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सत्य के बहुत करीब पहुँचकर भी सत्य से मुहँ फेर लेते हैं। शास्त्रीय संस्कार को इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक का अवरोधक मानने के अतिरिक्त इसकी अन्य क्या व्याख्या हो सकती है, कहना मुश्किल है। ऐसी जगहों पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचनात्मक विवेक मतिहारा हो जाता है और उनकी इतिहास दृष्टि युगों से संचित

संस्कार के सामने जुआ पटक देती है। शोध और अनुसंधान की दृष्टि से मूल्यवान होने के बावजूद उनके मूल्य-निर्धारण में कहीं कुछ महत्त्वपूर्ण छूट जाता है, जिसकी भरपाई कठिन हो जाती है। कबीरदास और तुलसीदास के तुलनात्मक विवेचन में संस्कारों की लदनी से हुई आलोचना विवेक की क्षति तो बहुत साफ-साफ महसूस की जा सकती है।

5 धर्म, भक्ति और साहित्य

हिंदी साहित्य का इतिहास और आलोचना प्रारंभ से ही धर्म और भक्ति के अंतर को नजरअंदाज करती आई है एवं दोनों को एक दूसरे का पर्याय मानकर विवेचन करती आई है। इस आधार पर होनेवाले विवेचन में स्वाभाविक रूप से असंगतियों के लिए अवकाश रह जाता है। 'भक्ति' और 'धर्म' में अंतर है, 'लेकिन, दिक्कत यह है कि हिंदी आलोचना के मनोभाव में शुरू से ही 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय की तरह अंत:सक्रिय रहे हैं। इस अंत:सक्रियता के ऐतिहासिक आधार भी रहे हैं। हिंदी आलोचना को भक्ति काल के साहित्य के अध्ययन के क्रम में इस कठिन सवाल से जूझना अभी बाकी है कि क्या धर्म और भक्ति एक ही चीज है?

5.1 भक्ति और धर्म

वस्तुत:, 'भक्ति' 'धर्म' के परिसर में 'अंतर्धार्मिक' और 'धर्मातीत' अंतर्वस्तु का अंत:संयोजन कर 'धर्म' को पूरी तरह बदल देने का काम करती है! अगर ऐसा नहीं है तो 'धर्मों' के रहते 'भक्ति' के सामाजिक उद्भव की ऐतिहासिक जरूरत की व्याख्या किस तरह की जा सकेगी! ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'धर्मों' में 'कर्मों' पर नहीं 'कर्मकांडों' पर जोर था, 'प्रेम' पर नहीं 'नेम' (नियम) पर जोर था। हिंदू धर्म में ईश्वर 'राजनारायण' है जबकि 'भक्ति' में ईश्वर 'प्रेमपरायण' है। 'भक्ति' का सामाजिक उद्भव निर्विशिष्ट ईश्वर और मनुष्य के प्रति अगाध-अबाध और सकर्मक प्रेम की ऐतिहासिक जरूरत से हुआ था। प्रेम के मूल स्वरूप को समझने से बहुत सारी गुत्थियाँ खुल सकती हैं। इतिहास गवाह है कि इस प्रेम-तत्त्व के कारण 'सभ्यताओं के संघात' की आशंकाएँ 'सभ्यताओं के अंतर्मिलन' की संभावनाओं में बदलती रही है। लेकिन यह प्रेम-तत्त्व इतना सहज नहीं है। सभ्यता के विकास में आनेवाले परिवर्त्तनों के संदर्भों को भी इस समझ से खोला जा सकता है। कबीरदास का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए। कबीरदास भक्त थे, उनकी भक्ति के तात्त्विक स्वरूप पर काफी चर्चा हुई है, उनके रहस्य-बोध पर भी चर्चा हुई है, जरूरत है उनकी भक्ति-चतेना को उनके सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने की। प्रेम अभिन्नता की ओर बढ़ने का मौलिक आधार है। भिन्नता अंधकार है। प्रेम प्रकाश है। प्रेम के प्रभाव में भिन्नता वैसे ही गायब हो

जाती है, जैसे प्रकाश के प्रभाव में अंधकार गायब हो जाता है। 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि। सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।'[30] 'प्रेम गली' इतनी सँकरी होती है कि इसमें दो भिन्न के लिए जगह नहीं होती है। 'हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोई। बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।'[31] 'राम' और 'रहीम', 'करीम' और 'केशव' के अभिन्न माने जाने के आग्रह में निहित मूल बात यह है कि उनको माननेवाले लोग अभिन्न हैं। धर्म और ईश्वर की अभिन्नता का विचार असल में मनुष्य की अभिन्नता का विचार होने के कारण ही सार्थक होता है। मनुष्य का मनुष्य से ही नहीं, समस्त सचराचर से मनुष्य की अभिन्नता का विचार ही प्रेम है। इसलिए प्रेम में 'वे' और 'हम' की नहीं सिर्फ 'हम' की ही गुंजाइश बनती है। प्रेम सामाजिक समूहन की भिन्नताओं को अभिन्नताओं में बदलने का सबसे बड़ा आधार है। कबीरदास के साहित्य को प्रेम के इस संदर्भ में समझने की कोशिश की जा सकती है। कबीर की पीड़ा यह है कि अभिन्नता हासिल करने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट उलझानेवाले लोगों और विचारों की तरफ से खड़ी की जाती है; ऐसे लोगों से अभिन्नता कैसे हो सकती है?'[32]

5.2 कबीर का किया

कबीर की भक्ति ने धर्म के स्वरूप को बदल दिया था। धर्म को सामंतवाद से प्राणरस मिलता आया है लेकिन भक्ति तो सामंती मूल्य और मिजाज से टकराकर ही विकसित हुई थी। धर्म और भक्ति में टकराव का यह ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आधार, परिप्रेक्ष्य और महत्त्व है। 'संतों के लोकधर्म का महत्त्व क्या है? संतों का लोकधर्म सामंती व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता है वरन् उसे कमजोर करता है। सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। वर्ग-युक्त समाज में बहुधा सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप ले लेते हैं।'[33] मनुष्य के प्रति प्रेम भक्ति के मूल में है। भक्ति के मूल में धार्मिक शोषण--- जो सामाजिक और आर्थिक-शोषण का आधार प्रदान करता है का जबर्दस्त प्रतिरोध है। यहाँ, 'इस बात को भुला देना कि मानव जाति पर लदा धर्म का जुआ समाज के अंतर्गत लदे आर्थिक जुए का ही प्रतिविंब और परिणाम है, पूँजीवादी संकीर्णता होगी।'[34] इसलिए 'मानव जाति पर लदे धर्म के जुए' में किसी भी तरह के बदलाव की माँग और प्रयास के आशय का स्वाभाविक प्रसार 'आर्थिक जुए' में बदलाव की माँग और प्रयास को भी अंतर्ध्वनित करता है। धर्म के 'ईश्वर' का ठिकाना

मसजिद, काबा, कैलास है, भक्ति का 'ईश्वर' कहता है, 'मोकों कहाँ ढूढे रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।/ ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।/ ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।'[35] जाहिर है, इस मान्यता से 'धर्म परायण जनता' और 'ईश्वर' के बीच हिंदू-मुस्लिम पुरोहित-समूह को जोरदार धक्का लगना स्वाभाविक था, जिसे धक्का लगेगा, वह मारने तो दौड़ेगा ही, 'साधो, देखो जग बोराना।/ साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।/ हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।' ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'निर्गुण' और 'सगुण' का विवाद 'धर्म' और 'भक्ति' के परिसर में पुरोहितवाद और सामंतवाद के कारण उत्पन्न हुआ। कहना न होगा कि पुरोहितवाद, जिस सामंतवाद का धार्मिक रूप है वर्णव्यवस्था उसी सामंतवाद का सामाजिक रूप है। ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में माना जाना चाहिए कि सामंतवाद से सीधी लड़ाई के लिए ही, 'भक्ति' पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था से लड़ते हुए ईश-प्रेम के आवरण में निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अपने अगाध एवं अबाध प्रेम के साथ विकसित हुई। 'भक्ति' के मर्म में कोरी भावुकता और आध्यात्मिक रहस्य ही नहीं सामाजिक यथार्थ की क्रूरता को मानवीय बनाने की अकुंठ सांस्कृतिक आकांक्षा भी अंतर्निहित है। क्या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतहास दृष्टि और आलोचना विवेक इस जनाकांक्षा को क्या बिल्कुल ही नहीं पढ़ पाई होगी! (देखें 6.3)

5.3 बौद्ध, इस्लाम और हिंदुत्व

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रेखांकित किया है कि 'इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि सन् ईसवीं की सातवीं शताब्दी में युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल, आसाम और नेपाल में बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनों की बात है जब इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद का जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रभावशाली होने का सबूत चीनी यात्री हुएनत्सांग के यात्रा-विवरण में मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्ध धर्म महायान संप्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित था, क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखा का भी था तो भी महायान शाखा के प्रभाव से अछूता नहीं था। सातवीं शताब्दी के बाद उस धर्म का क्या हुआ, इसका ठीक विवरण हमें नहीं मिलता, पर वह एकाएक गुम तो नहीं हुआ होगा। उस युग के दर्शन-ग्रंथों, काव्यों, नाटकों आदि से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ईसा की पहली सहस्राब्दी में वह इन प्रांतों में एकदम लुप्त नहीं हो गया था। इधर हाल में जो सब प्रमाण संगृहीत किये जा सके हैं उन से इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है। लेकिन जब मैं ऐसा कहता हूँ तो 'प्रभाव' शब्द का जो अर्थ समझता हूँ उसको ध्यान में रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हिंदीभाषी प्रदेश का जन-समुदाय उन दिनों बौद्ध था।

वस्तुत: सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध था या नहीं, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कारण यह है कि बौद्ध धर्म संन्यासियों का धर्म था, लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था।'[36] बौद्ध धर्म काफी प्रबल था, इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा उसके अमिट होने की बात सच है तो, फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था? लोक के सामाजिक जीवन पर प्रभुत्व कम होने पर उसका प्रभाव अमिट कैसे हो सकता है? आचार्य जानते थे कि इस तरह के सवाल उठ सकते हैं इसलिए उन्होंने 'प्रभाव' शब्द के अर्थ को बड़ी सावधानी के साथ परिभाषित करने की चेष्टा भी की है! वे कहते हैं कि सारा समाज किसी दिन बौद्ध था कि नहीं यह विवादास्पद है। इस विवाद में आचार्य का मत यह है कि सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध नहीं था। यह सच हो भी तो क्या फर्क पड़ता है? सारा समाज तो किसी दिन हिंदू भी नहीं था! वे यह स्थापित करते प्रतीत होते हैं कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी और बाद के दिनों में यह समाप्त हो गया तो इसका दोष मुसलमानी आक्रमण को जाता है! मुसलमानी आक्रमण तो पौराणिक धर्म पर भी था लेकिन वह बच गया, बौद्ध नहीं बचा, क्यों? क्योंकि (देखें 3.3) आचार्य के अनुसार पौराणिक धर्म का संबंध समाज से था और बौद्ध धर्म का संबंध विहारों से था! क्या सचमुच ऐसा ही था और इसीलिए बौद्ध नहीं बचा! क्या यहाँ समाज का ध्वन्यार्थ राज्य-सत्ता नहीं है!

5.4 साहित्य और धर्म: साहित्य का धर्म और धर्म का साहित्य

हिंदी आलोचना के प्राणपुरुषों के बीच साहित्य और धर्म के संबंधों को लेकर काफी असमंजस की स्थिति रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'धर्म' और 'भक्ति' में कोई अंतर नहीं करते हैं। वे पूछते हैं 'रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या हैं?'[37] धर्म का उद्भव एक ऐतिहासिक परिस्थिति में हुआ था। भक्ति काव्य का उद्भव एक भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में हुआ। धर्म का मुख्य संबंध कर्मकांड से होता है। भक्ति का मुख्य संबंध जीवनबोध से होता है। धर्म और भक्ति यदि एक ही होते तो धार्मिक कर्मकांड में भक्ति साहित्य का उपयोग होता। पता नहीं किस धार्मिक कर्मकांड में भक्ति साहित्य का उपयोग होता है। हाँ विभिन्न धार्मिक अवसरों पर भजन-कीर्त्तन के रूप में भक्ति साहित्य का उपयोग और कुछ हद तक जुड़ाव भी होता आया है। इससे किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं बननी चाहिए। क्योंकि भजन-कीर्त्तन उत्सव का हिस्सा होते हैं, कर्मकांड के नहीं। विभिन्न धार्मिक अवसरों पर उत्सव के उपकरण बदल जाते हैं, मंत्र नहीं! आजकल तो धार्मिक अवसरों पर फिल्मी गीत अधिक गाये-बजाये जाते हैं, तो क्या इस कारण से उन गीतों को धार्मिक मान लिया जायेगा! रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं हैं, भक्ति काव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आगे कहते हैं 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी

है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।'[38] धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं है, यह बात एक ऐतिहासिक परिस्थिति में ही सही हो सकती है। भक्ति काव्य का उद्भव जिस ऐतिहासिक परिस्थति में हुआ था, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उससे भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में अपना काम कर रहे थे। यही कारण है कि भक्ति काल में 'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश' से संबद्ध महान रचनाएँ तो उनकी साहित्यिक आलोचना का विषय बनती हैं, लेकिन उनके अपने समय में सृजित 'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश' से संबद्ध कोई रचना उनकी आलोचना का आधार विषय नहीं बनती है! धर्म और भक्ति में अंतर नहीं होता तो सारे प्रवचनकर्त्ता और कथावाचक अलोचकों की श्रेणी में गिने जाते! गड़बड़ी धर्म और भक्ति को एक मानकर चलने के कारण हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं 'केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है।'[39] यहाँ विनम्रता के साथ लेकिन दृढ़तापूर्वक कहना जरूरी है कि मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना नहीं रही है। मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्म के सामाजिक संजाल से मुक्ति की आकांक्षा और भक्ति साधना रही है; जिसे नामवर सिंह शास्त्र और लोक के द्वंद्व के रूप में पहचानते हैं। यदि, मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है तो 'भक्तिकाल' का नामकरण सीधे 'धर्मकाल' ही क्यों नहीं कर लिया गया? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तो यह भी कहते हैं कि 'धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष के टक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिये गये हैं।'[40] क्या अश्वघोष को भुला दिया जाना सिर्फ 'धार्मिक अनुयायियों' की क्षति है! 'धार्मिक अनुयायियों' का अभाव कैसे हुआ, अश्वघोष की उपेक्षा के ऐतिहासिक कारणों को क्या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचना विवेक की खींची हुई इस सरल रेखा में समझा जा सकता है! (देखें 3.3) साहित्य तो मूलत: उनका ही आश्रय रहा है जिनके लिए 'वेद' अलभ्य था--- 'न वेद व्यवहारोयं संश्राव्य: शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सावणार्णिकम।'[41] इसी तरह भक्ति भी मूलत: उन्हींका आश्रय थी, जिनके लिए धर्म में कोई समुचित जगह नहीं थी!

6 आलोचना का विवेक

कबीरदास का आविर्भाव उस समय हुआ था जब भारत एक भिन्न प्रकार के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सबसे बढ़कर सामाजिक संक्रमण, संघात, समन्वय और समवाय से गुजर रहा था। किसी भी समाज में संक्रमण, संघात, समन्वय और समवाय इतिहास, वर्त्तमान और भविष्य के अंतर्विरोधों से मुक्त नहीं होता है। इन अंतर्विरोधों के कारण इतिहास के प्रत्येक दौर में पहले के संश्लेषण और विश्लेषण की आख्याओं और व्याख्याओं में अंतर्विरोधों के नये सिरे से उभरकर आने की भरपूर गुंजाइशें रहती हैं तो भविष्य में होनेवाले संश्लेषण और विश्लेषण के बीज भी होते हैं। इसलिए पहले किये जा चुके संश्लेषणों, विश्लेषणों, आख्याओं और व्याख्याओं के किसी प्रसंग को अंतिम मानने का हठ-विचार आलोचना के परिसर के बाहर की चीज है; धर्म, राजनीति, वैयक्तिक-सामुदायिक हितों के परिसरों में ऐसे हठ-विचारों और पूर्वग्रहों का चाहे जो महत्त्व हो, आलोचना के लिए इनका असर अनर्थकारी ही होता है। आलोचना का काम तो किसी भी दौर में संश्लेषण, विश्लेषण और व्याख्याओं के कारण उभरे अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की प्रतिज्ञा से अनिवार्यत: प्रतिबद्ध होता है। इस दृष्टि से, आलोचना के किसी भी सार्थक काम को अपने पूर्ववर्त्ती प्रयासों पर पैनी नजर बनाये रखकर, हरबार शुरू से ही शुरू करना पड़ता है।

6.1 कबीर का हिंदी पाठ

कम-से-कम बुद्ध के समय से राज-संपोषित शास्त्र और समाज-समर्थित लोक का गहन द्वंद्व भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर्धाराओं में विद्यमान मिलता है। इस द्वंद्व को इस्लामिक संस्कृति एवं सत्ता के संपर्क से नया आयाम मिला। (देखें 5.1) इस बार शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व का क्षेत्र बदल गया था द्वंद्व के क्षेत्र का यह बदलाव साधारण नहीं बल्कि चारित्रिक और तात्त्विक था--- और इसके मूल में था सत्ता का बदलाव। ध्यान देने पर यह बात तुरंत साफ हो जाती है कि इस्लामिक संस्कृति और सत्ता से संपर्क और कई मामलों में संघात एवं सहमेल के पहले लोक को शास्त्र अपने अंदर समाहित कर उसे बदल देने में कामयाब होता आया था जबकि इस्लामिक संस्कृति और सत्ता से संपर्क, संघात एवं सहमेल के बाद ठीक इसके विपरीत खुद शास्त्र को लोक के परिसर में प्रवेश करने की अनिवार्यता का सामना करना पड़ा। इस अनिवार्यता की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में कबीर का योगदान अनन्यतम था। भक्ति का स्वाभाविक और प्रारंभिक पथ 'निर्गुण', अर्थात कबीर का पथ था। 'सगुण' का पथ प्रतिक्रियात्मक तो था लेकिन पूर्ण व्याघाती नहीं था। समझा जा सकता है कि 'सगुण' का पथ भक्ति के स्वाभाविक पथ में विचलन तो था, लेकिन इस विचलन के बावजूद 'सगुण' अंततः भक्ति का ही पथ था। यहाँ इतना स्मरण कर लेना आवश्यक है कि 'निर्गुण'

भक्ति ने धर्म में पुरोहित के जिस स्थान को निरर्थक बना दिया था 'सगुण' भक्ति ने प्रकारांतर से पुरोहित के उस स्थान को बहाल करने की पीठिका रचने का काम किया। जिस प्रकार 'निर्गुण' का चरम रूप कबीर में प्रकट हुआ था, उसी प्रकार 'सगुण' का चरम रूप तुलसी में प्रकट हुआ। कबीर और तुलसी के बीच की बहस कोई साधारण बहस नहीं है, इसे भारतीय संस्कृति के विस्तृत प्रवाह में निहित, 'विरुद्धों के युग्म' (Unity of Opposites) में निहित ऐतिहासिक तनाव के रूप में समझना चाहिए। तुलसीदास की सांस्कृतिक उपस्थिति ने अपने समन्वयवादी रुझान के कारण इस 'युग्म' के 'विरुद्धों' को अदृश्य बना दिया; औपनिवेशिक सत्ता के जड़ जमाने के साथ ही अदृश्यीकरण की इस प्रक्रिया का एक चक्र पूरा हुआ। हिंदी के सामान्य परिदृश्य से निर्गुण कबीर अदृश्य होते गये! यह हिंदी का सामान्य परिदृश्य था, सामान्य भारतीय परिदृश्य नहीं था। सामान्य हिंदी प्रदेश के बाहर, बंगाल जहाँ नवजागरण की आँच तेज हो रही थी, कबीर की निर्गुण आभा नये सिरे से प्रदीप्त हो उठी थी। शांतिनिकेतन जाकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को भी इस आभा का परिचय मिला! 'द्विवेदीजी के शांतिनिकेतन पहुँचने से काफी पहले रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से आचार्य क्षितिमोहन सेन वाचिक परंपरा में प्राप्त कबीर के वचनों का संग्रह करके 1910 में चार भागों में उनका सटीक प्रकाशन करवा चुके थे। फिर रवींद्रनाथ ने स्वयं भी इनमें से सौ पद चुनकर अंग्रेजी में अनुवाद किया और एवलिन अंडरहिल की भूमिका के साथ लंदन से 'वन हंड्रेड पोएम्स आफ़ कबीर' (1914) शीर्षक से प्रकाशित करवाया था। द्विवेदीजी के लिए ये दोनों ही सजीव प्रेरणाएँ सुलभ थीं। इसलिए इस अनुमान के लिए ठोस आधार है कि व्यापक क्षेत्र में इतनी ख्याति मिलने पर भी स्वयं अपने ही घर में कबीर को उपेक्षित पाकर द्विवेदीजी कबीर के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। यह अप्रासंगिक नहीं कि द्विवेदीजी का 'कबीर' आचार्य क्षितिमोहन सेन को समर्पित है।'[42] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जब कबीर के हिंदी पाठ से विश्वविद्यालय के छात्रों को समृद्ध करना चाहते थे तो उन्हें इस बात के लिए उन लोगों की कुत्सा का शिकार बनना पड़ा जो कबीर की इस नई आभा के वास्तविक प्रभविष्णुता से परिचित ही नहीं थे, तो क्या आश्चर्य! 'बात-बात में मुझे शांतिनिकेतन और रवींद्रनाथ को लेकर ताना दिया जाता था, कुछ इस ढंग से मानो उदार होना या सार्वभौम दृष्टि रखना कोई बहुत बड़ा अपराध हो। काशी विश्वविद्यालय में मैंने कबीर पढ़ाना शुरू किया तो एक मित्र कुलपति से शिकायत कर आये कि जिस विभाग में तुलसीदास से पढ़ायी शुरू होती थी उसमें कबीर से शुरू होने लगी है।'[43] ऐसे माहौल में आचार्य को अपना काम करने की लाचारी थी! तुलसीदास उनके प्रिय थे और कबीर अनुल्लंघ्य! कहना न होगा कि प्रियता का निधार्रण हृदय अर्थात संस्कारों से होता है अनुल्लंघ्यता बौद्धिकता से तय होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को विश्वविद्यालय के आचार्यों ने वैसे ही नहीं समझा जैसे

एक समय काशी के ब्राह्मणों ने खुद तुलसीदास को नहीं समझा था! लेकिन आचार्य तो कबीर को समझ रहे थे!

6.2 समाज सुधार

साहित्य और समाज के रिश्ते पर ढेर सारी बहस है। साहित्य समाज सुधार का साधन हो सकता है कि नहीं, या यह कि समाज सुधार में साहित्य की कोई सचेत भूमिका बनती है कि नहीं, या यह कि समाज परिवर्त्तन में साहित्य और साहित्यकारों की कोई भूमिका होती भी है या नहीं--- साहित्यकरों में इन बातों को लेकर काफी विवाद रहा है। तमाम बहसों के बीच में विचारधारा के सवाल भी किसी-न-किसी रूप में बने रहते हैं। यह मानने में मुझ जैसे लोगों को कोई असुविधा नहीं होती है कि साहित्य में मानवीय संबंधों की, भावनाओं की, जीवन-स्थितियों की, गरिमा की, अपेक्षाओं की अंतर्वैयिक्तक अभिव्यिक्तयों के लिए पर्याप्त जगह होती है और इसीलिए साहित्य की सामाजिक भूमिका भी पर्याप्त होती है। कबीरदास के साहित्य में पुरोहितों और मौलवियों को संबोधित करते हुए जो बातें कही गई हैं, उन बातों को पुरोहितों और मौलवियों तक सीमित मान लेना कत्तई उचित नहीं हो सकता। सही बात तो यह है कि पुरोहित और मौलवी तो माध्यम थे। संबोधन का असली लक्ष्य तो वे संस्थाएँ और वह समाज-व्यवस्थाएँ थी जिनको पुरोहितों और मौलवियों से बहुविध सामाजिक मान्यताएँ और वैधताएँ मिलती थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिन से (अगर उपयोग किया जाये तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परंतु आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अंतर संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे।'[44] स्पष्ट है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर की बातों से समाज सुधार में सहायता मिलने की संभावनाएँ तो देखते हैं लेकिन कबीर को समाज सुधारक मानने से वे हिचक जाते हैं। क्योंकि उनके अनुसार कबीर व्यष्टिवादी थे, समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था, वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे! तो फिर व्यक्तिगत साधना के अन्य प्रचारकों से कबीर भिन्न कहाँ थे और भिन्न नहीं थे तो समाज सुधार के लिए उनकी बातों के उपयोगी होने का आधार क्या था! यदि 'सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है' तो भी वह आचार्य हजारीप्रसाद

द्विवेदी के अनुसार बहुत काम की चीज नहीं ठहरती है क्योंकि 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था'! भाव में अ-भाव, स्वीकार में अस्वीकार--- यही तो है माया! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी संस्कृति की चारित्रिक विशेषता की अवधारणा को सामने लाते हैं और उनका अलोचना विवेक तदनुसार हिंदी संस्कृति के अंतर्गत कबीर का स्थान तय करने लग जाता है। क्या है हिंदी संस्कृति की चारित्रिक विशेषता? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'अगर आप भारत वर्ष के मानचित्र में उस अंश को देखें जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ तो उत्तर में भारतीय सीमा को छुए हुए है, जहाँ से आगे बढ़ने पर एकदम भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूरब की ओर भी भारतवर्ष की पूर्व सीमाओं को बनानेवाले प्रदेशों से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का ऐसा कोई भी प्रांत नहीं है जो इस प्रकार की चौमुखी संस्कृति से घिरा हुआ हो। इस घिराव के कारण उसे निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा है। पर जो बात और भी ध्यानपूर्वक लक्ष्य करने की है वह यह है कि यह 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पवित्र्याभिमानी रहा है। एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष ने और दूसरी तरफ रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में इन दो बातों को बद्धमूल कर दिया है--- एक अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, संप्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना।'[45] अर्थात 'अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना'! समाज सुधार की बात स्वीकारने के लिए 'विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना' काफी नहीं होता है, प्राचीन आचारों से छुटकारा भी पाना होता है। नवाचारों को स्वीकारे बिना पुनर्नवा भी कैसे हुआ जा सकता है! 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता मान लेने पर साहित्य की नजर से समाज में न तो कुछ असंगत बचता है, न अन्यायपूर्ण! फिर साहित्य की नजर में समाज सुधार का महत्त्व ही क्या हो सकता है! तो जो विचार और साहित्य इस 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को नहीं मानता है उसे भारतीय मानने में ही झिझक स्वाभाविक है! (देखें 2.2) 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता मान लेने का कोई तात्त्विक आधार नहीं हो सकता। सही बात तो यह है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक संघर्ष का बहुत बड़ा भाग 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' की मिथ्याचारिता के विरोध में ही सक्रिय रहा है। कबीर जैसे निर्गुण संत जब जन्म को ही गुण का आधार नहीं मानते थे तो 'पुनर्जन्म' को कौन

पूछे! इस अर्थ में गीता[46] का 'निष्काम कर्म' जो जन्म, जीवन, मरण और पुर्जन्म की तर्कशृँखला से अपना 'ज्ञानयोग' रचता है, कबीर जैसे निर्गुण संत के लिए अमान्य है। 'जात' जन्म से तय होता है, वे 'जात' को नहीं 'ज्ञान' को महत्त्व देते हैं--- 'म्यान' को नहीं 'तलवार' को महत्त्व देते हैं; 'जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।/ मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।'[47] बड़ी बात यह कि 'ज्ञान' को महत्त्व देते हुए भी अपने समय में चल रही 'ज्ञान की आँधी' से भी सावधान करते हैं! 'संतौ भाई आई ग्याँन की आँधी रे।/ भ्रम की टाटी सबै उंड़ाणीं; माया रहे न बाँधी।।'[48] हाँ, तुलसीदास जैसे सगुण भक्त 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को न सिर्फ सच मानते थे, बल्कि अपने माने हुए इस 'सच' की सामाजिक वैधता को बनाये रखने के लिए प्रयासरत एवं संघर्षशील भी थे। आचार्यगण इसी प्रयास एवं सांस्कृतिक संघर्षशीलता के आधार पर उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व का निरूपण करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक खुद की तय की हुई 'भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता' के साथ हो लेता है तो क्या आश्चर्य!

6.3 हिंदू मुस्लिम एकता

मध्यकाल के समाज में जिस भावना की सर्वाधिक जरूरत थी वह थी--- हिंदू मुस्लिम एकता। इस भावना की जरूरत तब से लेकर आज तक बनी हुई है। जाहिर है साहित्य में इस भावना की जितनी जरूरत कबीरदास के समय में थी उससे कम जरूरत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भी नहीं थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी संप्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी और ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं', तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवदविश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच

ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण उँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।'[49] क्या विचित्र स्थापना है कि अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो कबीर के इसी रास्ते हो सकती है फिर भी कबीर को हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेना कबीर के मूल-स्वरूप को भुला देना है! कुछ लोग पैगंबर ही मान लेते हैं तो क्या है, मान लेने देने में परेशानी क्यों! परेशानी तो है! यदि भक्ति और धर्म में अंतर नहीं होता तो, जिन तत्त्वों को धार्मिक लोग श्रेष्ठ मानते हैं भक्त उन तत्त्वों की खिल्ली क्यों उड़ाता! भक्ति में निष्कंप विश्वास के साथ अटूट तार्किकता के लिए भी काफी जगह होती है, धर्म अपना काम विश्वास (अंधा) के बल पर करता है! भक्ति आँखिन देखी की महिमा को जानती है, जानती ही नहीं बखानती भी है। (देखें 5) कबीरदास ने रोग का ठीक निदान भी किया था, औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में भी कोई गलती नहीं की थी। बस समझदारों ने विष पर 'औषध' और पथ्य पर 'अपथ्य' का लेबल चिपका दिया! कबीरादस संत थे और जाहिर है कि वे 'उस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे जिस बिंदु से 'धार्मिक लोग' देखते थे। तभी तो यह बात भी सामने आती है कि 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था'! इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर का, कहा जाए तो भक्ति के निर्गुण तत्त्व का, सामाजिक ही नहीं 'धार्मिक' दृष्टि-बिंदु भी भिन्न था। अपने समय में इतिहास के अनसुने सवालों को सुनने और ठीक से समझने एवं 'औषध' और 'अपथ्य' के सही निर्वाचन की अपेक्षा तो आलोचना विवेक से की ही जानी चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की बात तो अपनी जगह; दुखद यह है कि आज भी हिंदी आलोचना का विवेक इतिहास के अनसुने सवालों को मन से सुनने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है, 'औषध' और 'अपथ्य' के सही निर्वाचन की तो बात ही क्या! क्या यही नहीं है 'उपसंहार' में निहित संहार का सच!

7 कबीरदास और तुलसीदास

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के बारे में जो बातें कही है उसे अलग से देखने पर उनके आलोचना विवेक पर कोई संदेह हो सकता है, नहीं! तो फिर, 'साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' के साहित्य को 'फोकट का माल' कहने की क्या विवशता रही होगी! 'कविता लिखने की प्रतिज्ञा' के साथ तो तुलसीदास भी 'साहित्य के मैदान' में नहीं आये थे!

फिर ऐसा कैसे हो गया कि कबीर का साहित्य 'फोकट का माल' हो गया और तुलसीदास का साहित्य 'अनमोल रतन' हो गया! कैसे!

7.1 साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीरदास के महत्त्व को खूब जानते थे। उन्हीं के शब्दों में 'वे (कबीरदास) साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर उन्होंने भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।'[50] साधना और साहित्य का ऐसा मेल न तो कबीर के पहले और न कबीर के बाद ही कहीं मिलता है। जब नाम जाप तथा हजार और लाख बार के नाम जाप का महत्त्व बताया जा रहा था कबीर साफ-साफ कहते थे--- 'पंडित बाद बदंते झूठा।/ राम कह्यां दुनिया गति पाबै, षाँड कह्याँ मुख मीठा।।/ पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।/ भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।।[51] ऐसे कबीर की साधना और साहित्य को सिर्फ आध्यात्मिक मिजाज से समझ पाना मुश्किल नहीं असंभव ही माना जा सकता है।

'वाद-विवाद-संवाद' चिंतन की स्वाभाविक पद्धति है, यह कबीर के समय में ज्ञात था या नहीं यह तो विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन ज्ञानियों के चक्कर में पड़ने से चिंतन की इस स्वाभाविक पद्धति का जो हाल होता है, कबीर निर्विवाद रूप से उससे अवगत थे। न होते तो कैसे कहते कि 'पाँडे करसि न वाद विवादं, या देही बिना सबद न स्वादं।।'[52] 'सबद' और 'स्वाद' को 'देह' ('देही' तो 'देह' में ही रहता है!) से जोड़कर देखने और दिखानेवाले कबीर की साधना और साहित्य को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी समझते नहीं तो कैसे कह पाते कि 'साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' थे! सच कहा जाये तो 'साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' होने का प्रमाण तो उन्हें नवजागरण के आलोक में खुद रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन से ही मिल चुका था। फिर भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं 'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है--- बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।'[53] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं! शैली तो अपनी जगह, हालाँकि कुछ विद्वान यह बताते हुए नहीं थकते कि वस्तु ही शैली का भी निधार्रण कर देती है! ऐसे विद्वानों की

निगाह शैली पर नहीं गई तो फिर भी कोई बात नहीं। लेकिन 'ध्वनित वस्तु' और 'ध्वनित करने की सामग्री' का ऐसा बारीक अंतर तो 'ज्ञान की आँधी' में ही जाहिर होता है! 'ज्ञान की आँधी' में पले विद्वानों के लिए क्या मुश्किल है, वे तो कह ही सकते हैं कि अरे इतना भी नहीं जानते! 'ध्वनित करने की सामग्री' है--- सितार; 'ध्वनित वस्तु' है--- राग! क्या सचमुच कबीर ने 'संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया'! कबीर के लिए तो संस्कृत भाषा 'कूप-जल' थी ही, बुद्ध और महावीर के लिए भी संस्कृत कोई सहज स्वाभाविक भाषा नहीं थी। लेकिन जिन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए संस्कृत ऐसी भाषा रही है जिसमें साहित्य की रचना कम-से-कम छह हजार वर्षों से निरंतर होती आ रही है, जिसके लक्षाधिक ग्रंथों के पठन-पाठन और चिंतन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं, भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिंता का स्रोत संस्कृत के रास्ते ही बहता आया है, इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिये हुआ है, जिसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती--- फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के, जो इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष भाषा रही है, उस भाषा को वे 'कूप-जल' कहें! (देखें 2.2) आश्चर्य! स्नान तो संस्कार-गंगा में ही वरेण्य होता है, अनजान में सृष्ट हो रही भाषा-सरिता में नहीं! और कबीरदास तो माया महाठगिनी को पहचानते भी थे--- 'माया महा ठगनि हम जानी।/ तिरगुन फाँसि लिये कर डोले, बालै मधुरी बानी।।/ केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी। पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ में हू में पानी।।/ जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर के रानी।/ काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।।/ भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।/ कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।'[54]

सरस्वती का स्नान! स्नान करवाना पंडों-पुरोहितों का काम था, कबीरदास का नहीं। कबीरदास तो स्नान, दान, काबा, काशी आदि के झमेले से मुक्त हो चुके थे! उन्हें फिर से इस झमेले में डालने का क्या मतलब! कबीरदास साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे, पर किसने उन्हें गुरू माना! साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा थे, पर उनका साहित्य फोकट का माल था! वे भाषा की भी सृष्टि कर रहे थे, मगर अनजान में! यह कैसे संभव है? संभव है। दुनिया में बड़े-बड़े आविष्कार अनजान में ही तो हुए हैं--- और कुछ न भी मालूम हो कम-से-कम नहाते हुए आर्कमिडीज के 'युरेका-युरेका' चिल्लाने या बाग में न्युटन के सामने सेव के गिरने की कहानी तो सबको मालूम ही है। यह न मालूम हो तो 'घुणाक्षर न्याय' के बारे में जानते होंगे! घुन लकड़ी पर अपना काम करता है। अब घुन के इस काम से कहीं 'क' बन जाता है कहीं 'बी' तो

कहीं 'र' और विद्वान लोग उसे जोड़कर 'कबीर' समझें तो इसमें घुन का, क्या तो गुण और क्या तो दोष! यह सरस्वती की महिमा नहीं तो और क्या है कि इस देश में हमेशा 'कबीर के विवेक' को ही 'घुणाक्षर न्याय' से समझा जाता है, तुलसीदास के विवेक को नहीं! (देखें 4.1)

कबीरदास और तुलसीदास की तुलना करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास। परंतु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अंतर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब-कुछ को झाड़-फटकारकर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिंदी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब-कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। (देखें 4.1) अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाये तो और क्या कहा जाये? परंतु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कवि रूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं।'[55] किसने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें कही थीं? तुलसी ने! नहीं तो! लेकिन कबीर के कवि रूप को ही घलुए में मिली वस्तु होना था!

7.2 कबीर की केंद्रीय वस्तु

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उन से अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं।'[56] कबीर चेतना का बीज-तत्त्व 'प्रेम' है। कबीर को 'सतगुरू' भी इसीलिए भाते हैं कि वे 'सत्त प्रेम' का प्याला भरते हैं, खुद पीते हैं और कबीर को भी पिलाते हैं। 'साधो, सतगुरू मोंहि भावै।/ सत्त प्रेम का भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै।'[57] इस अपार जगत में जिससे रहनि संभव हो वही 'प्रीतम' कबीर को 'प्यारा' है! 'जिससे रहनि अपार जगत में, सो प्रीतम मुझे पियारा हो।/ जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिं में करत पसारा हो।/ आप जरै औरनि

को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।'[58] कबीर के प्रेम की जागतिकता पर और कुछ अलग से कहने की जरूरत है! 'देह' के महत्त्व को समझना जागतिकता के महत्त्व को समझना नहीं तो और क्या है? मनुष्य के प्रति निर्विशिष्ट और अबाध प्रेम कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व है। कबीर के समय का बीज-तत्त्व, धर्म और ईश-विचार में निहित था। इसलिए, कबीर का मनुष्य-प्रेम, ईश्वर के आलंबन से भक्ति के परिसर में अभिव्यक्त हुआ है। यदि 'हरिस्मरण' के संदर्भ में 'कलाविलास' के लिए जगह बन सकती है तो 'हरिस्मरण' के संदर्भ में समाजविकास और सामाजिक समानता के लिए जगह क्यों नहीं बन सकती है? बन सकती है, इसीलिए, कबीर ने ईश-विचार की चुनौती तो स्वीकारी, लेकिन साथ ही उन्होंने धर्म को गहरी चुनौती भी दी। उन्होंने धर्म और ईश-विचार दोनों को ही बदलकर रख दिया। कबीर के बाद हिंदी-समाज के संदर्भ में न तो धर्म और न ही ईश-विचार वही रह गया जो कबीर के पहले था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भक्ति-चतेना को ईश-प्रेम से जोड़कर उसका गहन और विलक्षण अध्ययन तो करते हैं लेकिन सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने का गुरूतर कार्य पता नहीं किसके भरोसे पर छोड़ देते हैं। ईश्वरीय-प्रेम तो अंतत: और अनिवार्यत: मानव-प्रेम के रूप में ही सार्थक हो सकता है। ईश्वरीय-प्रेम और मानव-प्रेम के बीच सूक्ष्म और अबाध भावांतरण[59] को ठीक से नहीं समझने पर न तो कबीर का आध्यात्म समझ में आ सकता है और न ही उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व की बात ही समझ में आ सकती है। कबीर के 'ईश्वरीय-प्रेम' अर्थात आध्यात्म-चेतना, को तो खूब सराहा गया लेकिन उनके 'मानव-प्रेम' अर्थात सामाजिक-चेतना की गंभीरता को न समझते हुए उसे 'फोकट का माल' ही माना गया! कबीर का प्रेम 'दुलहा-दुलहिन' का अंतर्मिलन है, बारातियों का मजाक नहीं, 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।/ दुलहा दुलहिन मिलि गये, फिकी परी बरात।'[60]

7.3 समवाय, समन्वय और समाज

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तुलसीदास के बारे में कहते हैं, 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। ...लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय--- रामचरित-मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।...समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस

असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि रामचरित-मानस के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह शुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता। ...आज चार सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।'[61] तुलसीदास में समन्वय की विराट चेतना थी और आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है--- तो फिर तुलसीदास के रचे हुए इस उत्तर-भारत में ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय क्यों नहीं हो सका? इतिहास के इस सवाल से न तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि टकराती हुई दिखती है और न उनका आलोचना विवेक ही टकराता हुआ दीखता है।

यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कबीर में 'समन्वय-चेतना' नहीं थी। कबीर का समवाय निश्चित रूप से तुलसीदास के समन्वय से भिन्न जाति का और अधिक व्यापक स्वभाव का था। समवाय में झुकने-झुकाने का नहीं, समझने-समझाने का भाव प्रमुख होता है। तुलसीदास के समन्वय में हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों और उपासना पद्धति में, दार्शनिक मतों में, वैचारिक समन्वय का वर्ण-सापेक्ष पक्ष अंतर्निहित है। कबीरदास के समवाय का धरातल तुलसीदास के समन्वय से बड़ा है। कबीर 'निर्विशिष्ट मनुष्यता' के विभाजन के थोथे आधार को चुनौती देते हैं। कहना न होगा कि 'समन्वय' विचार का सकारात्मक पक्ष होता है। तुलसीदास का समन्वय 'सामाजिक समता के निषेध' को स्वीकार कर आध्यात्मिक एकता की बात करता है। कबीरदास का समवाय 'निषेध का निषेध' करते हुए आध्यात्मिक एकता के साथ सामाजिक एकता की बात पर भी बल देता है। लेकिन, 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।/ मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।/ मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।'[62] तुलसीदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य की सामाजिक-समता की पैरवी नहीं करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-विषमता का, प्रकारांतर से और कभी-कभी सीधे भी, औचित्य प्रतिपादित करता है। कबीरदास का समवाय मनुष्य की धार्मिक-समता के साथ ही मनुष्य की सामाजिक-समता की भी पैरवी करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-समता के औचित्य प्रतिपादन पूरी तार्किकता के साथ करता है। वस्तुत: धार्मिक आधार पर समता और सामाजिक आधार पर विषमता से विरोधाभासी जीवन-स्थितियों का जन्म होता है। जिस भक्त के चिंतन में 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझने' का मनोभाव सक्रिय हो उससे बड़ा समन्वयकारी और कौन हो सकता है! यह सच है कि कबीर का समन्वय झुकने-झुकानेवाले समन्वय से भिन्न है, क्योंकि वे झुकने-झुकानेवाले समन्वयों के सांस्कृतिक परिणाम को पढ़ पा रहे थे। यह

समझना ही होगा कि 'कबीर का सवप्न क्यों बिखर गया? तुलसी कबीर से सौ साल बाद होकर भी कबीर से अधिक मुखर क्यों नहीं हो सके? भक्ति पुन: धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में क्यों बदल गई?'[63] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पास इस सवाल का सही जवाब है; भक्ति पुन: धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में बदल गई 'हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड' के कारण (देखें 4.1)। यह जानने और मानने के बाद भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (Balance) की रक्षा करते हुए, एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की और अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन भारत का नया जन्म होगा।'[64] क्या हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रति असहिष्णु हैं? शायद नहीं। लेकिन यह सच है कि तुलसीदास और सगुण भक्ति का प्रसंग आते ही उनका आलोचनात्मक रवैया सीधी-सरल रेखा से समझ में नहीं आता है। यह सच है कि हिंदी परिसर में कबीर को फिर से सामने लाने का आलोचनात्मक दायित्व ऐतिहासिक रूप से सबसे अधिक तत्परता से उन्होंने ही निभाया। शंतिनिकेतन में रहते हुए उन्हें कबीर के महत्त्व का अंदाजा लग गया था। बंगाल के नवजागरण के सूत्रकारों और सूत्रधारों से उनका निकट का संबंध बना था। नवजागरण के सूत्रों से उन्हें कबीर नये संदर्भ में महत्त्वपूर्ण लगने लगे थे। वे महिमा में कबीर की प्रतिद्वंद्विता तुलसी से होने को देख रहे थे। दिक्कत यहीं हो गई। कबीर की नहीं, तुलसी की कबीर से प्रतिद्वंद्विता थी। बाद में होने का लाभ तुलसी को मिला। उन्होंने कबीर समेत भक्ति के पूरे सामाजिक पाठ को उलटकर उसे फिर से सामंतवाद, शास्त्र-धर्म और वर्ण-व्यवस्था में समेट लिया। तुलसीदास का यह प्रभाव हिंदी क्षेत्र में गहरा पड़ा, लेकिन हिंदी-क्षेत्र से बाहर तुलसी का प्रभाव पड़ा ही नहीं या फिर बहुत फीका पड़ा। दोनों का प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने था। इन प्रभावों का द्वंद्व उनके भीतर था। इसी द्वंद्व का नतीजा है कि वे आलोचना की नजर से इस बात को सैद्धांतिक रूप से ठीक ही देख रहे थे कि 'ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं' लेकिन व्यावहारिक रूप से 'प्रधान ध्वनित वस्तु' को 'बाई प्रोडक्ट' और 'फोकट का माल' कह रहे थे। काव्य रचना तो तुलसी की भी प्रतिज्ञा नहीं थी, कबीर की भी नहीं थी। फिर तुलसी का काव्य 'अद्वितीय' कैसे हो गया और कबीर का काव्य 'फोकट का माल' कैसे हो गया!

7.4 प्रेरणा और प्रयोग

भक्ति शास्त्र से प्रेरणा नहीं लेती है, शास्त्र का प्रयोग जरूर करती है। कहना न होगा कि प्रयोग करने और प्रेरणा लेने में भारी अंतर होता है। 'धर्म' शास्त्र से प्रेरणा लेता है, जीवन

और लोकाचरण में प्रयोग नहीं करता है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेने के बदले उसके विरोध में जाने का 'जोखिम' उठाते हुए भी उसका जीवन और लोकाचरण में भरपूर प्रयोग करती है। क्योंकि भक्ति कुमति को पहचानती है, 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।/ वेद पुरान पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन अस जैसैं भारा।' जाहिर है 'राम नाम जपना' और 'वेद पुरान' पढ़ना दोनों अपनी-अपनी वस्तुवाचकता और अपने पदार्थ-बोध में एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। तुलसीदास के 'नाम सुमिरन सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे।।' और कबीरदास के 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।' में तात्त्विक अंतर है। तुलसीदास का 'नाम सुमिरन' 'वेद पुरान' के अतिरिक्त और 'वेद पुरान' का विस्तार है, कबीरदास का 'राम नाम जपना' उस 'वेद पुरान' का विकल्प और उस 'वेद पुरान' से निस्तार का मार्ग है। इस अंतर का संबंध उनके सामाजिक अवस्थान से है। असल बात यह है कि अपने समय की जीवन-स्थितियों के कारण 'भक्ति' 'शास्त्र के खर-चंदन-भार' से 'धर्म' को मुक्त करने के क्रम में अंतर्धार्मिक और धर्मातीत रास्ता अख्तियार करती है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में, या हिंदू धर्म में, ढूढ़ना सही नहीं है। उन धर्मों का असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मल्लिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत-साहित्य की अपनी विशेषताएँ हें जो मूलत: किसी प्राचीन धर्मग्रंथ पर निर्भर नहीं हैं।'[65] इतिहास गतिशील रहता है। आनेवाला समय गुजरे हुए समय की समझ को बार-बार परखने की चुनौतियाँ देता है। असल में, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत--- बौद्ध धर्म या इस्लाम या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है', इसीलिए भक्ति को धार्मिक परिप्रेक्ष्य के बाहर और 'भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों' के परिप्रेक्ष्य के अंदर से समझना और स्वीकारना ही उचित और उपादेय है। लेकिन यह काम आलोचना तत्परता से नहीं कर सकी है। तुलसीदास में भक्ति का धार्मिक परिप्रेक्ष्य अधिक है और कबीरदास में सामाजिक परिप्रेक्ष्य अधिक है। तुलसीदास ने भक्ति साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ला खड़ा किया जिससे 'भक्ति' के गौण होते जाने और 'धर्म' के प्रमुख होते जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। तुलसीदास के भक्त होने के बावजूद उनकी धार्मिक-चेतना, इस अर्थ में भक्ति की मूल सामाजिक चेतना का विरोध रचती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहास की इस विडंबना को जानते तो थे! लेकिन रही होगी कोई बात कि उनकी इतिहास दृष्टि झलफला गई और अलोचना विवेक आगे बढ़ने से हिचक गया। यह बात

संस्कारजन्य भी हो सकती है या फिर विश्वविद्यालयों का वातावरण भी हो सकता है या फिर और कुछ! जो भी स्थिति हो, अंततः के पहले मुक्तिबोध के शब्दों को याद करें, "आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्ग के हाथ में है--- जिनमें उच्च मध्यवर्ग भी शामिल है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे, अनिवार्यत:। यह बदल सकती है। और, जब बदलेगी, तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फ़ाख्ता हो जायेंगे। संस्कृति का नेतृत्व करना जिस वर्ग के हाथ में होता है, वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनी जीवन-दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परंपरा बन जाती है। यह परंपरा भी इतनी पुष्ट, इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित होती है, कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जब अनेक सामाजिक राजनीतिक कारणों से निम्न-जन-श्रेणियाँ उदबुद्ध होकर, सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती है तब वे उन पुराने चले आ रहे भाव-प्रभावों, विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों को इस प्रकार संपादित और संशोधित कर लेती हैं, कि जिससे वे अपने अज्ञान की परिधि में ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, समाज-रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव में, वे निम्न-जन-श्रेणियाँ, अपनी सामाजिक-राजनीतिक विकासावस्था के अनुरूप, पुरानी विचारधाराओं ही का संपादन संशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आंशिक विस्तार कर लेती हैं। किंतु अंतत:, संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओं से हारना ही पड़ता है। मेरा मतलब कबीर जैसे निर्गुणवादी संतों की श्रेणी से और उस श्रेणी में आनेवाले लोगों से है। समाज के भीतर निम्न-जन-श्रेणियों का वह विद्रोह था, जिसने धार्मिक-सामाजिक धरातल पर स्वयं को प्रस्थापित किया। आगे चलकर, निर्गुणवाद के अननंतर, सगुण भक्ति और पौराणिक धर्म की विजय हुई, तब संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। यह आवश्यक नहीं कि आगे चलकर ये निम्न-जन-श्रेणियाँ चुपचाप बैठी रहें। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वयं संस्कृति का नेतृत्व करेंगी, और वर्तमान नेतृत्व अध:पतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात से वे डरें जो समाज के उत्पीड़क हैं, या उनके साथ हैं हम नहीं क्योंकि हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं--- हम चाहे जहाँ उग आते हैं। गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।"[66]

8 अंतत:

एक साहित्यकार के इतिहास-बोध और आलोचना-विवेक को समझने के लिए उसके आस-पास के बौद्धिक पर्यावरण एवं परंपरा की धार को समझना भी जरूरी होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय का बौद्धिक पर्यावरण आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सर्जनात्मक उपस्थिति से बनता था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन और आलोचना का आधार तैयार करने के कार्य को जिस बौद्धिक तत्परता और व्यापकता से पूरा

किया उसे एक बड़ी बौद्धिक छलाँग कहना अत्युक्ति नहीं होगी। इतनी बड़ी छलाँग में बहुत कुछ का छूट जाना असंभव नहीं हुआ करता है। फिर वह कबीर जैसा पहाड़ ही क्यों न हो! हिंदी प्रदेश से तो कबीर वैसे ही बहिष्कृत थे। जब बुद्ध ही निर्वासित थे तो कबीर, जिनके साहित्य में बोद्ध धर्म और उसकी सामाजिक चेतना का विलयन हुआ था, कैसे स्वीकार्य हो सकते थे! कबीर के लिए जब समाज में ही जगह नहीं बन पाई थी तो साहित्य का क्या कहना! फिर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रत्यक्ष अनुभव में न तो बंगाल का नवजागरण ही था और न रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन के कबीर संबंधी कार्य और प्रेरणा का प्रदीप्त प्रभाव ही था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समक्ष यह अवसर था कि हिंदी आलोचना में अनुल्लंघ्य के उल्लंघन के दोष का परिहार और प्रायश्चित किया जा सके। कहना न होगा कि अपने जानते उन्होंने इस अवसर का पूरा उपयोग भी किया। उन्होंने जो वैकल्पिक इतिहास दृष्टि व्यवहार में लाई उसके पीछे अनिवार्य रूप से सक्रिय वैकल्पिक आलोचना विवेक को भी चिह्नित करना चाहिए। इतना तो तय है कि अपनी कतिपय परिस्थितिजन्य और संस्कारजन्य सीमाओं के बावजूद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को हिंदी प्रदेश के साहित्यिक वातावरण में प्रतिष्ठित कर दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कविता क्या है' नहीं लिखा ठीक, लेकिन इस कारण से 'कविता का प्रतिमान' लिखना कहाँ बंद हो गया! यह सच है कि आलोचना विश्लेषण का पर्याय नहीं है, लेकिन क्या विश्लेषण अलोचना की परोपजीविता का प्रमाण है! और उद्धरण? ऐसा बताया जाता है कि कर्ण को परशुराम का शाप था कि उन से सीखी हुई विद्या तभी विस्मृत हो जायेगी जब जीवन में उसकी सबसे ज्यादा जरूरत होगी। अगर इस प्रसंग का कोई अर्थ है तो अब शाप पलट गया लगता है। वह ताकत अक्सर गुरू परशुराम का साथ छोड़ देती है जिस ताकत की उन्हें अत्यधिक जरूरत होती है; फिर उस ताकत का नाम विवेक और संदर्भ का नाम अलोचना ही क्यों न हो!

अपने अंतिम समय में विद्यापति गंगा दर्शन के लिए उपस्थित हुए थे। उन्होंने बड़ी विनम्रता से प्रार्थनापूर्वक क्षमायाची मुद्रा में कहा था कि हे माँ, मुझे क्षमा करना मैंने तुम्हारे पानी को अपने पैर से स्पर्श किया है--- परसल माए, पाए तुअ पानी। परंपरा के पानी में तो उतरना ही पड़ता है; परंपरा 'पवित्र वन' न सही, तब भी परंपरा के अवदानों को समझकर इतनी-सी क्षमायाची मुद्रा तो होनी ही चाहिए।

अंततः इतिहास और परंपरा विश्लेषण के विषय हैं, दोष निरूपण के नहीं।

संदर्भः

1. नामवर सिंहः त्वं खलु कृतीः दूसरी परंपरा की खोजः राजकमल प्रकाशन, 1982/1989

2. Dr. Babasaheb Ambedkar : "Revolution and Counter Revolution in Ancient India: Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987) p.275 { DALIT VISION}

3. प्रो. श्यामाचरण दुबेछ समय और संस्कृतिः भारतीयता की तलाशः वाणी प्रकाशन, 1996

4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

5. आचार्य हजारीप्रसाद द्विदेदीः भाषा साहित्य और देशः भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

6. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः भारतीय साहित्य की प्राण-शक्तिः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर

7. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर

8. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

9. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर

10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

11. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

12. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन

13. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

14. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

15. डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् : भारतीय संस्कृति कुछ विचार

16. डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृषणन् : भारतीय संसकृति कुछ विचार

17. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

18. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
19. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
20. नामवर सिंहः भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोक धर्म: दूसरी परंपरा की खोजः राजकमल प्रकाशन
21. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहछ ग्रंथ रत्नाकर
22. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
23. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर-वाणीः कबीरः राजकमल प्रकाशन
24. रामधारी सिंह दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय
25. प्रफुल्ल कोलख्यानः बाजारवाद और जनतंत्रः धर्म, समाज और राज्यः आनंद प्रकाशन
26. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
27. प्रोफेसर तुलसी रामः रामाज्ञा राय शशिधर की बातचीतः अंधविश्वास धर्म का मुख्य तत्व हैः समयांतर, मार्च 2003
28. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दासः प्रस्तावनाः नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
29. आचार्य हजारीप्रसाद द्वविदेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन
30. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: परचा को अंग-35: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
31. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली - 58: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
32. प्रफुल्ल कोलख्यानः ढाई आखर का प्रेम और विश्वः कबीर का सचः संपादक सोलजी थॉमस
33. रामविलास शर्माः परंपरा का मूल्यांकनः संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएः राजकमल प्रकाशन

34. लेनिनः सामाजवाद और धर्मः धर्म और लेनिनः संग्रहीत रचनाएँ खंड-10 (हिंदी पाठः नेशमल बुक एजेंसी)

35. कबीर – कबीर-वाणीः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः राजकमल प्रकाशन

36. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

37. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

38. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

39. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

40. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

41. भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, 1.12

42. नामवर सिंहः अस्वीकार का साहसः दूसरी परंपरा की खोजः राजकमल प्रकाशन

43. नामवर सिंहः ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूतः दूसरी परंपरा की खोजः राजकमल प्रकाशन

44. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – उपसंहारः राजकमल प्रकाशन

45. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन

46. भगवद्गीताः चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।3।। अध्याय4, गीता प्रेस

47. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीरः कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन

48. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली -16: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

49. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – उपसंहारः राजकमल प्रकाशन

50. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन

51. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली -40: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

52. कबीरःकबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली -249: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

53. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – उपसंहारः राजकमल प्रकाशन
54. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर– कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन
55. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर – उपसंहारः राजकमल प्रकाशन
56. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर– उपसंहारः राजकमल प्रकाशन
57. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर– कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन
58. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर– कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन
59. 'interpolation' का अर्थ लें
60. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर– कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन
61. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः राजकमल प्रकाशन
62. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर– कबीर-वाणीः राजकमल प्रकाशन
63. शंभुनाथः दुस्समय में साहित्य– परंपरा का मूल्यांकनः कबीर का सांस्कृतिक महाविद्रोहः वाणी प्रकाशन
64. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिकाः राजकमल प्रकाशन
65. रामविलास शर्माः परंपरा का मूल्यांकन– संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ : राजकमल प्रकाशन
66. मुक्तिबोधः मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4 : राजकमल प्रकाशन

आलोचना और समाज



प्रफुल्ल कोलख्यान

'आज का अधिकांश लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्राय: इसका रचनात्मक अन्वेषण करता और उस पर निर्णय देता है। आलोचना भी अंतत:, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं का सहारा लेती है। उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तु-स्थिति की अपनी समझ है। जाहिर है इस समझ का वह समकालीन लेखन को जाँचते परखते वक्त इस्तेमाल करेगी।'

- अशोक वाजपेयी

सामान्यत: आलोचना को लोग अच्छी नजर से नहीं देखते। विवेक संपन्न गुण-दोष विवेचन के नीर-क्षीरवाले विवेक से जोड़कर इसे कम ही लोग देख पाते हैं। आलोचना को छिद्रान्वेषी माना जाता है। इसका प्रयोग निंदा के अर्थ में भी किया जाता है। कम-से-कम अपने हिंदी समाज में तो यही स्थिति है। यह सही और अच्छी स्थिति नहीं है। बिना आलोचनात्मक विवेक के मनुष्य का जीवन एक भी कदम आगे नहीं बढ़ सकता है। इसलिए निंदा, जो कि इसका निकृष्टतम अभिप्रेत होता है, के अर्थ में भी समझदार लोग इसके महत्त्व को जानते रहे हैं। तभी तो सलाह दी थी कि निंदक को नजदीक रखिये, आँगन में कुटी बनाकर। क्योंकि यह निंदक बिना साबुन-पानी के ही स्वभाव को निर्मल करता है। साबुन-पानी न लगे, लेकिन जिसका 'मल' निकाला जाता है उसे कुछ-न-कुछ 'रगड़' भी तो झेलनी ही पड़ती है। अब जिसे रगड़ झेलनी पड़े वह क्या बताये कि आलोचना अच्छी चीज है! हाँ, आलोचना के अच्छी चीज

होने का एहसास तब अवश्य होता है जब अपना 'निर्मल' चेहरा कोई देखे। असल बात यह है कि आलोचना की ऐसी अर्थ-छवि क्यों है? और इस अर्थ-छवि को बनाने में किन-किन कारणों से किन लोगों की रुचि हो सकती है? आलोचना की ऐसी सामाजिक छवि को समझने की कोशिश में ही आलोचना की सामाजिकता भी साफ हो सकेगी और उसकी जरूरत भी नये सिरे समझ में आ सकती है। जरूरत के नये सिरे को समझना इसलिए जरूरी है कि आज के परिप्रेक्ष्य में आलोचना को जीवन से खदेड़ने की कोशिश नये सिरे से की जा रही है।

आज जीवन में अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाया जा रहा है। हर किसी को अपने-अपने 'सद्गुण' के बखान और विज्ञापन की छूट है। अपने और दूसरे के 'दुर्गुण' के बारे में समझदारी भरी चुप्पी के मर्म के प्रति आदर के महत्त्व को समझा और समझाया जा रहा है। कह सकते हैं आज के इस अनालोचन में 'गुणग्राहकता' बढ़ी है। 'गुन न हिरानो हैं, गुन ग्राहक हिरानो हैं' के समय से हम बाहर निकल आये हैं। आज न तो 'गुन' की कोई कमी है और न 'गुनग्राहकों' की कोई कमी है। कमी है तो कंचन की, हिरण्य की। उस 'कंचन' की जिसके आश्रय में ही सारे 'गुण' रहते हैं। उस 'हिरण्य' की जिसके गर्भ में सत्य सदावास करता है। इसलिए अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाये जाने के मनोविज्ञान को समझने के लिए असमान अर्थ-विश्व के समर्थ अर्थ-प्रभुओं की विश्वाकांक्षा के आर्थिक परिप्रेक्ष्य को समझना होगा। इसके आर्थिक प्रयोजनों से राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक यथा-स्थितिवाद के संपोषण के लिए एक मुहावरा ही बनाने की कोशिश हो रही है कि जो जैसा है वह वैसा और वैसा ही हो सकता है। इसे स्वीकार किया जाये या फिर अस्वीकार किया जाये। इसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन या मीन-मेष अन्वेषण का अधिकार 'बाहरी' तत्त्व को नहीं है। स्वीकार ही सार्थकता की गारंटी है। कुल मिलाकर यह कि आज नये सिरे से न सिर्फ आलोचनात्मक विवेक को समाप्त करने की कोशिश जारी है बल्कि आलोचनात्क सोच को अशालीन घोषित कर दुष्टता की परिधि में धकेलने की प्रचेष्टा भी नये सिरे से की जा रही है।

मनुष्य की सामाजिकता के परिगठन के काल से ही आलोचन और अनालोचन का द्वंद्व चलता रहा है। धर्म और विज्ञान के विकास के क्रम में इनके बीच होनेवाले टकरावों के विभिन्न संदर्भों को देखने से आलोचन और अनालोचन का यह द्वंद्व साफ-साफ समझ में आ सकता है। इस द्वंद्व में धर्म, जो अधिक-से-अधिक उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाने के लिए उपयोगी जिज्ञासाओं को तो कुछ हद तक स्वीकार करता है लेकिन किसी भी स्तर पर अपनी वास्तविक आलोचना को बर्दाश्त नहीं कर सकता, के साथ सत्ता के हमेशा ही होने के कारणों को भी आसानी से पहचाना जा सकता है। आलोचना के प्रति इस रवैया के पुराने सिरे और नये सिरे में लक्ष्य की समानता निश्चित

रूप से है। यह समानता है मनुष्य की बड़ी आबादी को शोषण की जकड़न में डाले रखना। इस लक्ष्य की समानता को पहचानना और उनके संबंध को उद्घाटित करना आलोचना की सामाजिकता पर बात करने के लिए बहुत जरूरी है।

ज्ञान हमेशा ही अज्ञान के पटल पर तैयार की गई शोषण की जकड़न को काटने का आधार और मनोभाव बनाता रहा है। इस काम में ज्ञान को विज्ञान का साथ स्वाभाविक रूप से मिलता रहा है। विज्ञान का मुख्य आधार तर्क रचता है। तकनीक की प्रवृत्ति तर्क का काम ट्रिक से लेने की होती है। आज जब ज्ञान को सूचना से विस्थापित किया जा रहा है तब स्वाभाविक ही है कि विज्ञान तकनीक से विस्थापित हो जाये। आज विज्ञान की कोख से जनमे तकनीक का प्रयोग अंधविश्वासों को काटने के बदले अंधविश्वासों को बढ़ाने के लिए बड़ी तेजी से करने का प्रचलन किया जा रहा है। इतिहास गवाह है, विज्ञान का विकास सत्ता के सहारे नहीं हुआ है। अधिक सच्ची बात तो यह है कि विज्ञान का विकास सत्ता के स्वार्थों के विरोध से ही हुआ है। सत्ताधीशों ने तो अपने-अपने समय के वैज्ञानिकों को न सिर्फ प्रताड़ित किया बल्कि कई बार तो उनकी जान तक ले ली। अब विज्ञान के विकास और उसके लाभ पर हम सत्ता के शिकंजों का कसाव देख सकते हैं। मनुष्य की आधारभूत एकता को साबित करने के लिए एकता के तत्त्वों को खोजने के उपक्रम में विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन तब विज्ञान सत्तापेक्षी नहीं था। तब ज्ञान सूचना में और विज्ञान तकनीक में लघुमित (रिड्यूस्ड) नहीं हुआ था और न ज्ञान-विज्ञान की जगह सूचना-तकनीक ने ले ली थी। लेकिन आज सत्तापेक्षी बनकर विज्ञान मनुष्य की आधारभूत एकता को खारिज करने के लिए एकता के तत्त्वों का अमानकीकरण कर रहा है। सत्ता के सूत्रों से बँधा विज्ञान मनुष्य और उसकी सामाजिकता के विरोध में खड़ा होता हुआ प्रतीत हो रहा है।

अपने रचाव में जीवन का विन्यास अद्भुत है। जीवन के इस रचाव को देखने से विज्ञान का कला पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है और कला का विज्ञान-पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है। साहित्य और आलोचना दोनों का संबंध जीवन से है। साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। आलोचना जीवन की इस कलात्मक अभिव्यक्ति के वैज्ञानिक आधार का रचाव है। जीवन में आलोचना के लिए सम्मान न बचे तो साहित्य में कहाँ से बचेगा! आलोचना की सामाजिकता की किसी भी तलाश में हमें बार-बार जीवन के खुले आँगन में जाना ही होगा। नारे की तरह हो या मंत्र की तरह अने-आप से और अपने समाज से केदारनाथ सिंह के कंठ में कंठ मिलाकर बार-बार 'एक पारिवारिक प्रश्न' पूछना ही होगा कि ''मैं अपना नन्हा गुलाब कहाँ रोपूँ?'' आज जब सुखी और संपन्न लोग जोर-जोर से बीस का पहाड़ा रट रहे हैं हमें 'सन् 47 को याद करते हुए' एक दूसरे पूछना ही होगा कि ''तुम्हें याद है मदरसा/ इमली का पेड़/ इमामबाड़ा/ तुम्हें याद है

उन्नीस का पहाड़ा/ क्या तुम अपनी भूली हुई स्लेट पर/ जोड़-घटा कर यह निकाल सकते हो/ कि एक दिन अचानक तुम्हारी बस्ती छोड़कर/ क्यों चले गये थे नूर मियाँ?'' पूछना ही होगा राजेश जोशी की काव्य-संवेदना के साथ तदाकार होते हुए कि यह कैसी और किसकी आजादी है कि सारी चीजें हैं हस्बे मामूल फिर भी बच्चे सुबह-सुबह किसके लिए काम पर जा रहे हैं और वे सारे के सारे लोग जो निहत्थे और निरपराध हैं क्यों और किनके हाथों मार दिये जा रहे हैं? और हत्यारा? 'बुद्ध की मुस्कान' पर परमाणु विस्फोट करता हुआ अपने चेहरे पर बुद्ध की मुस्कान चिपकाये, मंगलेश डबराल के शब्दों में बुद्ध के शरण में जाने का स्वाँग रचाता है, खुले आम! पूछना ही होगा कि आज जीवन को जारी रखने के लिए आवश्यक फसल उगानेवाले दुखसह होरी के वंशधर फसलों के दुश्मनों के नाश के लिए इजाद किये गये रसायन से अपना प्राण नाश करने पर क्यों विवश हो रहे हैं, क्यों भून दिया जा रहा है उन्हें गोलियों से? क्यों धनिया का आँचर आज पहले से अधिक तार-तार है?

आकस्मिक नहीं है कि पूरी दुनिया में आलोचना और जनतंत्र की चेतना का विकास साथ-साथ हुआ है। जहाँ आलोचना पहले विकसित हुई जनतंत्र की चेतना भी पहले वहीं विकसित हुई। अगर भारतीय परिप्रेक्ष्य को देखा जाये तो बाहरी उपनिवेश और आंतरिक उपनिवेश दोनों से मुक्ति की चाह में ही संप्रभुत्व संपन्न राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रीय-जनतंत्र की अकांक्षा का विकास हुआ। आज अगर एक साथ राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता और राष्ट्रीय-जनतंत्र के चरित्र को बाहरी और भीतरी दोनों ही ताकतों से खतरा है तो इसलिए कि ये दोनों ताकतें मिलकर यहाँ की विभिन्न सामाजिकताओं के बीच की दरार को फैलाकर और नये आभासी दरारों को प्रभावी बनाकर राष्ट्रीय-जनतंत्र की विभिन्न सामाजिकताओं को नई गुलामी में जकड़ना चाहते हैं। इस काम में उनका सब से बड़ा हथियार होता है व्यापक पैमाने पर लोगों के बीच अंधविश्वास का प्रसार। इसके लिए आलोचनात्मक-बुद्धि का अनादर और अनालोचनात्मक मनोवृत्ति का समादर सत्ता के लिए आवश्यक होता है। यहीं हम आलोचना की सामाजिक स्थिति और बनाई गई छवि के कारणों को भी पकड़ सकते हैं। क्योंकि आलोचना 'जो है, उस से बेहतर' को हासिल करने के सामाजिक उद्यम के लिए हमेशा एक इतर-विचार के विकल्प के सामाजिक प्रस्ताव का आधार तैयार करने का प्रयास करती है। इस इतर-विचार के विकल्प की सामाजिक मान्यता से ही समाज का बहुलतावादी स्वरूप उभरता है। सत्ता को अपने विचार के अलावे कोई और विचार कभी रास नहीं आता है, बहुलतावाद कैसे रास आ सकता है! सत्ता को और उसके यथास्थितिवाद को किसी भी प्रकार का विकल्प कभी पसंद नहीं आता। आज के संदर्भ में 'टिना' (TINA = THERE IS NO ALTERNATIVE), अर्थात विकल्पहीनता तो

उनका प्रिय दर्शन ही बन गया है। स्वाभाविक ही है कि इस 'टिनावाद' में आलोचना के लिए कोई जगह नहीं है।

राजतंत्र हो या जनतंत्र दोनों में राजसत्ता के प्रति जनता के विश्वास एवं आस्था की जरूरत होती है। यह विश्वास दो प्रकार का होता है। एक ज्ञान पर आधारित और दूसरा अज्ञान पर अधारित। ज्ञान में प्रश्न की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान असहमति का हक माँगता है। अज्ञान सहमति का सबसे टिकाऊ आधार बनाता है। राजसत्ता को प्रश्न से स्वभावत: परहेज होता है। उसे प्रश्न पसंद नहीं आते। राजसत्ता हर किसी को अपने सामने देवनागरी के पूर्ण विराम चिह्न की तरह सीधा और रुका हुआ देखना चाहता है, प्रश्नवाचक चिह्न की तरह का टेढ़ापन उसे पसंद नहीं आता। राजसत्ता को अज्ञान पर आधारित प्रश्नातीत विश्वास, अर्थात अंधविश्वास, अधिक स्वीकार्य होता है। अज्ञान पर आधारित प्रश्नातीत विश्वास की स्थिति के टूटने से ही राजसत्ता के अंदर ज्ञान पर आधारित प्रश्नाकुल विश्वास जनसत्ता, यानी जनतंत्र का आधार बनाता है। दूसरी ओर ज्ञान पर आधारित प्रश्नाकुल विश्वास की प्रवृत्ति पर नाना प्रकार के अवरोध खड़े कर और अज्ञान पर आधारित प्रश्नातीत विश्वास को बढ़ावा देकर राजसत्ता जनतंत्र के चरित में राजतंत्र के 'गुण' भरने की निरंतर कोशिश करती है। राजा होना किसे अच्छा नहीं लगता है! यह समझने की बात है कि दुनिया के अधिकतर देशों में राजतंत्र को तो जनतंत्र ने विस्थापित कर दिया लेकिन उसी जनतंत्र ने 'राजनीति' को विस्थापित कर उसकी जगह 'जननीति' को क्यों नहीं स्थापित किया? राजतंत्र और जनतंत्र की राजनीति के चरित और स्वरूप में अंतर होना चाहिए। जनतंत्र तो आ गया राजनीति के चरित और स्वरूप में बदलाव आया क्या? आधुनिक मनुष्य की उपलब्धि के अधिकार और आकांक्षा का आधार जनतंत्र रचता है। जनतंत्र को राजनीति सुनिश्चित करती है। इसलिए अंधविश्वास और राजनीति के अंतस्संबंध पर विचार आवश्यक है।

अंधविश्वास और राजनीति के संबंध या यों कहें कि धर्म एवं उससे जुड़ी विभिन्न मान्यताओं और राजनीतिक हित-पोषण अर्थात सत्ता में बने रहने के लिए राजा अर्थात सत्ताधारी शक्ति के संबंधों पर विचार करते हुए रामशरण शर्मा ने 'प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ' (प्र.सं.1992) के पंद्रहवें अध्याय ''कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में धर्म और राजनीति'' में गंभीरता से विचार किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

> 1. 'कौटिल्य ने लोगों को राजा के देवत्व की प्रतीति कराने के लिए अनेक प्रकार के प्रचार अधिकारियों की व्यवस्था की है। इस कार्य के लिए सात प्रकार के अधिकारियों को राज्य की सेवा में प्रवृत्त करना है। वे हैं - ज्योतिषी (दैवज्ञ), भविष्यवक्ता, मौहूर्तिक, पौराणिक

(कथावाचक), ईक्षणिक (संभवत: एक प्रकार के दैवज्ञ, जो प्रश्नोत्तर के क्रम में भविष्य का शुभाशुभ बताते थे), गुप्तचर और साचिव्यकर (राजा के सहचर)। 'अर्थशास्त्र' में अन्यत्र प्रथम चार का उल्लेख पुरोहित वर्ग के सदस्य के रूप में हुआ है। यह लोकमत तैयार करने में पुरोहितों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का प्रभाव है।'' विश्व विद्यालय में ज्योतिष पढ़ाने के आग्रह और महत्त्व को हम आसानी से समझ सकते हैं!

2. ''कौटिल्य ने एक युक्ति यह भी सुझाई है कि कुछ देव प्रतिमाएँ नष्ट करके उन से लगातार खून की धारा बहती दिखाई जाये और तब गुप्तचर ऐसा प्रचार करें कि यह शत्रु की हार का लक्षण है।'' देश भर में गणेश प्रतिमाओं के दुग्धपान के प्रचार का रहस्य समझ में आना चाहिए।

3. ''एक विद्वान की राय है कि 'अर्थशास्त्र' में कुछ स्थलों पर इस तरह के चमत्कारों पर आधारित जिन कटु-युक्तियों की हिमायत की गई है, वे इस ग्रंथ के मौलिक अंश नहीं हैं। उनका यह कहना है कि ''अर्थशास्त्र'' के शेष अंशों में तथा ''मुद्राराक्षस'' नामक नाटक में विष्णुगुप्त का जो सच्चा चरित्र प्रतिबिंबित होता है, ये युक्तियाँ उससे संगत नहीं प्रतीत होतीं। (एच.सी सेठ,''दि स्पुरियस इन कौटिल्याज अर्थशास्त्र'' ए वाल्यूम ऑफ इस्टर्न एंड इंडियन स्टडीज प्रेजेंटेड टू प्रोफेसर एफ.डब्लू टामस, पृ.25)। ऐसा जान पड़ता है कि ये अंश परवर्त्तीकाल में, भारत में तंत्रवाद का बोलबाला होने पर, इस ग्रंथ में प्रक्षिप्त कर दिये गये। जब तक इस समस्या का समाधान नहीं हो जाता कि कितना अंश असली और कितना अंश नकली है, कौटिल्य के ग्रंथ के इस अंतर्विरोध का कारण यह मान सकते हैं कि जहाँ राज्यहित का प्रश्न हो, वहाँ वह किसी प्रकार के धर्मसंकोच में नहीं पड़ते।''

4.''ऐसी बात नहीं कि प्राचीन राजनीति में अंधविश्वासों का लाभ उठाने के सिद्धांतों का प्रतिपादन अकेले कौटिल्य ने किया हो।बिल्कुल यही दृष्टिकोण प्लेटो के ''रिपब्लिक'' में भी देखा जा सकता है। उसमें झूठा और मनगढ़ंत प्रचार किया गया है कि ईश्वर ने दार्शनिकों में सोना, योद्धाओं में चाँदी, तथा किसानों और कारीगरों में पीतल और लोहा रखा। प्लेटो ने महसूस किया कि इस कल्पित कथा को एक ही पीढ़ी में जनमानस में स्त्य के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता लेकिन, दूसरी, तीसरी और उसके बाद की पीढ़ियों

में लोगों का विश्वास इस पर जमाया जा सकता है। काल की दृष्टि से तो नहीं, लेकिन स्थान की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी प्लेटो और कौटिल्य दोनों के विचार में अपनी सत्ता की रक्षा और विस्तार के लिए शासक वर्ग को अंध विश्वास को प्रश्रय देना चाहिए। रोम के राजनीतिज्ञों की दृष्टि भी ऐसी ही थी। वहाँ के पुरोहित मंडलों ने अपना प्रभाव खूब बढ़ा लिया था, फिर भी उन्होंने और उनमें से भी खास तौर से उच्च पदों पर आसीन लोगों ने इस बात को कभी नहीं भुलाया कि उनका कर्तव्य समादेश देना नहीं, अपितु दक्षतापूर्ण परामर्श देना है। और रोमन राजनीतिज्ञ यदि इस प्रकार के स्पष्ट प्रपंचों को चुपचाप स्वीकार लेते थे वह धर्म का विचार करके नहीं बल्कि अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए। यूनानी पालीबिअस यह कथन सर्वथा उचित था कि रोमवालों के धर्म से जो अनोखे और जटिल अनुष्ठान प्रचलित थे, उनका आविष्कार मात्र सामान्य जनों को ध्यान में रखकर किया गया था, क्योंकि उनमें बुद्धि का अभाव था और इसलिए उन पर प्रतीकों और चमत्कारों के जोर पर ही शासन किया जा सकता था। प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञ भी ऐसे ही प्रपंचों का प्रयोग करते थे, और निर्भीक तथा सूक्ष्म चिंतक यदाकदा इन प्रपंचों का पर्दाफाश भी कर देते थे।जैसे, बाण ने राजा के देवत्व की अनर्गल परिकल्पना को अस्वीकार करते हुए कहा कि यह उन चाटुकारों की करतूत है जो कमजोर और मूढ़ राजाओं के दिमाग में इस तरह की बेतुकी बातें भर देते हैं, किंतु जो शक्तिशाली और समझदार राजाओं को मूर्ख नहीं बना सकते।''

5. ''अंधविश्वास और राजनीति का आपसी संबंध कौटिल्य की कृति की ऐसी विशेषता है जिसकी ओर सामान्यत: ध्यान नहीं दिया जाता है। कुल मिलाकर देखें तो 'अर्थशास्त्र' धर्म और राजनीति के आपसी संबंधों के विवेचन से तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। एक तो यह कि कौटिल्य वर्णित राज्य प्रारंभिक विधिग्रंथों में प्रतिपादित ब्राह्मण विचारधारा का रक्षक है। लेकिन भारतीय मानस की जो एक सामान्य विशेषता है, उसके विपरीत कौटिल्य का राज्य पुरोहित सत्ता का अनुयायी नहीं है। कारण, वह राज्यसत्ता की नींव को कमजोर बनानेवाले ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर धार्मिक रीतिरिवाजों की न केवल उपेक्षा करके चलता है बल्कि उसका दमन भी करता है। यह दूसरी प्रवृत्ति है। तीसरी प्रवृत्ति यह है कि कौटिल्य

राज्य के हितसाधन के निमित्त--- विशेषकर विदेशनीति के संदर्भ में--- जनसाधारण के अज्ञान और अंधविश्वास से लाभ उठाते प्रतीत होते हैं।'' अंधविश्वास और राष्ट्रवाद के उन्माद के संबंध का संदर्भ स्वत: स्पष्ट है।

स्वाभाविक ही है कि आज जब पूरी दुनिया में अंततरर्राष्ट्रीय आवारा वित्तीय पूँजी के भू-मंडलीकरण और मनुष्य के स्थानीयकरण की प्रक्रिया तेज की जा रही है तो इसके प्रमुख बाधक जनतंत्र को, कम-से-कम जनतंत्र की चेतना को तो निश्चि रूप से, विदा करने की तैयारी भी चल रही है। ऐसा क्यों हो रहा है? भू-मंडलीकरण और जनतंत्र में ऐसा क्या विरोध है कि दोनों एक साथ चल नहीं सकते? आज इस सवाल पर बहुत ही गहराई से सोचने की जरूरत है। इसके लिए भू-मंडलीकरण और जनतंत्र के बीज-स्वभाव का स्मरण कर लेना प्रासंगिक होगा। अंततरर्राष्ट्रीय आवारा वित्तीय पूँजी सार्वभौम-शक्ति का ही दूसरा नाम है, भू-मंडलीकरण। अंततरर्राष्ट्रीय आवारा वित्तीय पूँजी का स्वभाव केंद्राभिमुख है। अर्थात एक केंद्र से पूरी दुनिया में फैलना और अधिक शक्तिशाली होकर अपने केंद्र की ओर लौट आना। इसके मूल चरित्र में मनुष्यता की समता के लिए कोई सम्मान नहीं है। यह मनुष्य की असमानता को ही स्वाभाविक और सच बताता है। इसका जोर इसीलिए असमानता को प्रमाणित करनेवाले निदर्शनों की तलाश पर होता है। जरा-सा ध्यान देने पर यह बात छिपी नहीं रह जाती है कि मनुष्य में असमानता का आधार आकारिक एवं बाहरी होता है और समानता का आधार वस्तुगत एवं भीतरी होता है। पूँजी मनुष्यता के साथ जुड़ी हुई बड़ी शक्ति तो है लेकिन यह है बाहरी और इसलिए असमानता का एक बड़ा आधार निर्मित करती है।

यह भू-मंडलीकरण समाजिक एवं नागरिक को उपभोक्ता में और सांस्कृतिक रूप से एक दूसरे से संबद्ध सांस्कृतिक समाजों को उपभोक्ता समाज में बदलने के लिए प्रयासरत है। इस उपभोक्ता समाज में समृद्धि और स्वतंत्रता एक दूसरे की पूरक नहीं विरोधी बनकर ही उपस्थित होती है। इस उपभोक्ता समाज का चरित और स्वभाव कैसा होगा? यह बहुत ही गंभीर सवाल के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। हमारे समय में बहुत तेज परिवर्तन घटित हुआ है, हो रहा है। औद्योगिक विकास की प्रक्रिया के कारण सामाजिक संक्रमण का जो क्रम आरंभ हुआ था उसने समाज की मूल्य चेतना को अपने स्तर पर बदलना प्रारंभ किया। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में प्रारंभिक तेजी बहुत नहीं थी। एक पूरी सक्रिय और नियंता पीढ़ी परिवर्तन की इस प्रक्रिया को धीरे-धीरे आकार और अयाम देती रही। मूल्य-चेतना में आने वाले परिवर्तन का भी क्रमिक विकास हुआ। वैज्ञानिकता के आलोक में नये नैतिक आग्रह के साथ उपस्थित इस परिवर्तन में एक प्रकार

की क्रमिकता थी और नये सामाजिक मूल्यों के साथ ताल-मेल बिठाने के लिए पर्याप्त अवसर की गुंजाइश थी। यह अलग बात है कि इस गुंजाइश का पूरा उपयोग नहीं किया जा सका। आज उपस्थित परिवर्तन क्रमिक नहीं है यह डिजिटल है। आज के इस डिजिटल परिवर्तन के समय में नये परिवर्तन के अनुरूप और अनुकूल ढलने का कोई प्रभावी अवसर मन:स्थिति को उपलब्ध नहीं हो पाता है। मूल्य-बोध में परिवर्तन के सामाजिक और मानसिक अवसर इतने कम होते हैं कि एक ही सक्रिय और नियंता पीढ़ी को बोध-परिवर्तन के कई-कई चरणों से एक ही साथ गुजरना पड़ जा रहा है। इस डिजिटल समय के समाज में एक ऐसे समाज-मुक्त सामाजिक वर्ग का उदय होता है, जिसे उपभोक्ता समाज के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इस उपभोक्ता समाज के स्वरूप और क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानसिक गठन को समझ के दायरे में लाने के लिए परिभाषित करने की कोशिश के अपने जोखिम हैं। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि उपभोक्ता समाज के सदस्य मूल रूप से 'खाने' के लिए जीता है जबकि उत्पादक समाज 'जीने' के लिए खाता है। उपभोक्ता समाज में किसी सदस्य का सामाजिक महत्त्व इस आधार पर तय नहीं हुआ करता है कि वह उत्पादित क्या करता है बल्कि इस अधार पर तय हुआ करता है कि वह उपभोग कितना करता है। महत्त्व निर्णय इस बात पर भी नहीं होता है कि कोई त्याग कितना और क्या करता है बल्कि इस बात पर हुआ करता है कि वह भोग कितना और कैसे तथा किस निर्ममता से करता है। निर्ममता भी इसका एक लक्षण है, जिसका विस्तार क्रूरता तक सहज ही परिलक्षित किया जा सकता है। सिर्फ भोग ही नहीं बल्कि निर्मम भोग इसका दार्शनिक मतवाद है। बाजार का दर्शन ही है 'भोगो और भूल जाओ', इसे अंग्रेजी में कहते हैं 'युज एंड थ्रो'। इस निर्मम और क्रूर भोग के स्वभाव को छिपा ले जाने की चतुराई के परिप्रेक्ष्य में ही पर्यावरण की उनकी चिंता का आधार तलाशा जाना चाहिए। कभी-कभी उत्तर-आधुनिक कहे जानेवाले दर्शन से भी इस प्रवृत्ति को वैचारिक ताकत और वैधता मिल जाया करती है।

यह, 'भोगने और भूल जाने' का उपभोक्तावादी मिजाज, मिल के सुखवाद से इस अर्थ में भिन्न है कि मिल के सुखवाद में सामाजिक प्रपत्ति के रूप में नैतिकता के लिए महत्त्वपूर्ण जगह बनी रहती है। सामाजिक नैतिकता से अन्यतम वियोग मिल के सुखवाद की दार्शनिकता का आधार निर्मित नहीं करता है। मिल के सुखवाद में संतुष्ट सुअर से असंतुष्ट मनुष्य के जीवन को अधिक वरेण्य माना गया है। अर्थात मनुष्यता को अधिक महत्त्व दिया गया है और जाहिर है ऐसा होने पर मिल के सुखवाद में निर्ममता के लिए वह जगह नहीं बन सकती है जो उपभोक्ता समाज में बुनियादी रूप से बनती है। यदि चार्वाक के सुखवाद के स्वरूप को भी देखें तो यह बात बिल्कुल साफ-साफ दीखती है कि उनके मतवाद में सुखवाद की पैरवी धर्म के नाम पर जारी ढकोसलों के खिलाफ ही अधिक है बनिस्पत सुख के। वह अपने मूल रूप में भौतिकवादी अधिक है न

कि सुखवादी। तात्पर्य यह कि 'ऋण करके घी पीने' के उनके सिद्धांत का मुख्य मकसद न तो 'ऋण करने' पर जोर देना था और न ही 'घी पीने पर', बल्कि पुनर्जन्म के अधार पर खड़ी की गयी तथाकथित आध्यात्मिक नैतिकता की जगह भौतिकतावादी सामाजिक नैतिकता की विचार सरणियों को खड़ा कर पुनर्जन्म संबंधी अवधारणाओं का विरोध करना और एक अधिक नैतिक समाजिकता को हासिल करना था। पुरोहितवादी समाज व्यवस्था को इससे गहरी चोट और चुनौती मिल रही थी। इसलिए, पुरोहितवादी समाज व्यवस्था ने इसके भौतिकवादी स्वरूप की जगह सुखवादी स्वरूप को ही अधिक मान्यता प्रदान किया। क्योंकि, पुरोहितवादी समाज व्यवस्था के लिए भौतिकवाद से लड़ना कठिन था जबकि सुखवाद से लड़ना असान था। ऐसा इसलिए कि पुरोहितवाद के मुख्य आधार ईश्वर को न माननेवाले दार्शनिक मतवाद भारत में और भी थे लेकिन वे न तो भौतिकवादी थे न ही सुखवादी थे। स्वभावत: सुखवाद के विरोध के नाम पर भौतिकवादी दर्शन से लड़ना उनके लिए आसान पड़ सकता था।

आज के उपभोक्ता समाज के नैतिक संकाय की खोजबीन की जाये तो इसके अंदर सक्रिय पुरोहितवादी रूझान को बड़ी आसानी से पकड़ा जा सकता है। यह उपभोक्ता समाज भोग के स्तर पर नितांत 'भौतिकवादी' आचरण करने वाला होते हुए भी आध्यात्मिक और पुरोहितवादी नैतिक सरणियों के निर्माण में बड़ी तत्परता से संलग्न पाया जाता है। यहीं बाजार और धर्म के नव-संश्रय को बड़ी आसानी से पकड़ा जा सकता है। आज पूरी दुनिया में उभर रहे धर्माग्रह को इस संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि धर्माग्रह जितनी तेजी से बढ़ रहा है उतनी ही तेजी से धर्माचरण पर जोर भी कम होता जा रहा है। क्योंकि, पारंपरिक धर्माचरण में दया, करुणा, परदुखकातरता, परहित जैसे भाव अंतर्निहित रहे हैं। यद्यपि, व्यवहार के स्तर पर प्रभुत्व संपन्न वर्ग के सदस्यों में इस तरह के धर्माचरण के उदाहरण कम ही मिलते हैं लेकिन सिद्धांत के स्तर पर इनकी स्वीकृति सदैव रही है। इस स्वीकृति का सकारात्मक परिणाम दया के दान तक फैलकर पुण्य लूटने और परलोक सुधारने में परिलक्षित होता रहा है। पूण्यार्थ से मुक्त उपभोक्ता समाज यह भली-भांति जानता है कि इसे सिद्धांत के स्तर पर भी स्वीकार करना एक प्रकार के झंझट को बचाये रखने जैसा ही होगा। जब कि इससे उसकी संरचना के अंतर्निहित निर्ममत्व और क्रूरता को कोई कारगर टिकाऊ आवरण भी नहीं मिल पायेगा। जाहिर है पहले के पुरोहितवादी ढाँचे में धर्माचरण का आग्रह धर्म के पाखंड को 'सर्वेभवंतु सुखिन:' की सामाजिक नैतिकता का एक टिकाऊ आवरण प्रदान करता था। आज उस प्रकार के पाखंड की जरूरत नहीं रह गयी है। आज वह बाजार की शक्ति से संपन्न है। आज वह राजनीतिक राज्य (Political State) को चुनौती देते हुए उसे नैगमिक या बाजार राज्य (Corporate State) में तब्दील करने की तैयारी में जुटा हुआ है। उपभोक्ता समाज के बल पर आज का

बाजारवाद जनतंत्र को अप्रासंगिक, अविश्वसनीय और फालतू बनाने के अपने खेल में लगा हुआ है। उसके पोषक जिस राजनीति से प्रतिष्ठित होते हैं उसी राजनीति को 'दुखती रग' बताते हैं। राजनीति को 'दुखती रग' मानना जनतंत्र के प्रति जन की आस्था को कमजोर करने का ही प्रयास तो है! यह उपभोक्ता समाज जितना स्थानिक आग्रहों पर बल देता है उतना ही ग्लोबल आग्रहों पर भी बल देता है। वह जितना राष्ट्रीय होने पर आमादा होता है उतना ही बहुराष्ट्रीय होने के लिए मरा जाता है। नैतिकता के मामले में इसके अपने आग्रह हैं। इस क्रम में नैतिकता की पुरानी प्रणाली जिसके अनुसार मन, वचन और कर्म की एकरूपता पर बल दिया जाता था, आज उसके लिए बेमानी है। आज उपभोक्ता समाज के लिए वैश्विक स्तर पर सोचने और स्थानिक स्तर पर कार्यरत होने का सिद्धांत निरूपित और आरोपित किया जा रहा है--- अर्थात, Think Globally, Act Locally।

बाजार के हित के लिए सबसे खतरनाक होता है समाज। क्योंकि, अकेले व्यक्ति का आखेट करना बहुत आसान हुआ करता है। इसलिए वह पहला आक्रमण समाज पर करता है। और इसके लिए असली समाज को रोजगारहीन वृद्धिवाले लालची उपभोक्ता समाज से विस्थापित किये जाने की कोशिश करता है। एक नकली या डमी समाज गढ़ने की कोशिश करता है। समाज को शक्ति मिलती है नैतिकता की सामंजस्यकारी क्षमता से। और यह इसलिए भी कि नैतिकता अपने आप में एक सामाजिक प्रपत्ति है। जिसकी सर्वाधिक प्रमाणिक अभिव्यिक्त समाज के लोगों के पारस्परिक संबंधों की आम चलन में देखने को मिलती है। समाज का आधार परिवार है। परिवार का आधार यौन संबंधों की सामाजिक स्वीकृति में अंतर्भुक्त हुआ करता है। अर्थात, सामाजिक नैतिकता की कुँजी यौन संबंधों की सामाजिक स्वीकृति के स्वरूप में सुरक्षित होती है। दूसरी ओर, भोग की भी चरम अभिव्यिक्ति यौन संबंधों में ही घटित होती है। व्यक्ति और समाज का सर्वाधिक सुदीर्घ द्वंद्व यौन-सबंधों पर ही केंद्रित रहा करता है। अब अगर सामाजिक नैतिकता को दूर फटकारना लक्ष्य हो तो इसकी सहज तार्किक परिणति यौन संबंधों और संदर्भों को विकृत करने को इसका प्राथमिक पाठ बना देती है। समाज में पहले से व्याप्त यौनमूलक भेद-भाव और शोषण का सहारा लेकर विकृतिकरण का यह प्रयास अधिक समतामूलक दीखने और अपनी वैधता साबित करने में सफल हो जाता है। परिवारों के टूटने के कारणों, इलेक्ट्रॉनिक मिडिया से प्रसारित होनेवाले विभिन्न घारावाहिकों और यहाँ तक कि नारी मुक्ति आंदोलनों एवं अंग्रेजी साहित्य की समकालीन प्रवृत्तियों के सथ ही हिंदी साहित्य के भी कतिपय पक्षों को भी समझने के लिए बाजार के इस आग्रह और आंतरिक मनोभाव को पढ़ना आवश्यक और अनिवार्य है।

सामाजिकता का एक और महत्त्वपूर्ण अधार है भाषा। भाषा अपने आप में एक ऐसी सामाजिक शक्ति है जिसके साथ बहुत अधिक छेड़-छाड़ संभव नहीं हुआ करता है। इधर संचार माध्यमों की प्रभुता ने लेकिन सफलतापूर्वक देशी भाषाओं के साथ छेड़-छाड़ प्रारंभ किया है। कहना न होगा कि मातृभाषा का अपना महत्त्व हुआ करता है। निश्चित रूप से इसे स्वीकार करना ही चाहिए। लेकिन राष्ट्रभाषाओं या राजभाषाओं का भी अपना महत्त्व हुआ करता है। राष्ट्रीय जीवन में इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है, नहीं की जानी चाहिए। मातृभाषा प्रेम राष्ट्र या राजभाषा के प्रति दुराव या घृणा का आधार नहीं बन सकता है। इधर, मातृभाषा प्रेम के लिए विश्व स्तर पर नये सिरे से अभियान चलाया जा रहा है। मातृभाषा के नाम पर भावनात्मक शोषण अधिक आसान होता है। इसलिए मातृभाषा प्रेम के इस नये आग्रह के अंतर्निहित मूल अभिप्राय को धैर्य और सावधानी से समझना होगा। असल बात यह है कि बाजार अपनी स्वाभाविक धारक और शासक भाषा (Covering & Governing Language) के रूप में तो अंग्रेजी को चाहती है लेकिन लोकरंजन (Language of Entertainment) के महत्त्व को भी जानती है। इसलिए बाजार अपना लिखित कारोबार तो अंग्रेजी में करता है क्योंकि वह बहुत गोचर नहीं होता है लेकिन बोलचाल में अंग्रेजी मिश्रित भाषाओं को प्रश्रय देने की मुहिम को हवा देता है। वह बड़ी तेजी से हिंग्रेजी (हिंदी+अंग्रेजी) और बंग्रेजी (बांग्ला+अंग्रेजी) आदि जैसी भाषिक संरचनाओं को आकार देने के प्रयोग पर दत्तचित्त होकर काम कर रहा है। इसे भाषाओं के बीच आदान-प्रदान के नैसर्गिक प्रवाह समझना भूल है। इसके पीछे की उनकी सक्रियता और धूर्त्तता को समझना ही होगा। धूर्त्तता यह कि बांग्ला, हिंदी आदि पार्श्ववर्ती भाषाओं की नैसर्गिक निकटता किसी प्रकार बढ़ने न पाये बल्कि धीरे-धीरे दूरियाँ बढ़े। हिंगलिश (हिंदी+इंग्लिश) और बंग्लिश (बांग्ला+इंग्लिश) का विकास तेजी से हो लेकिन किसी भी प्रकार से बांग्दी (बांग्ला+हिंदी) आदि के विकास की कोई सामाजिक आकांक्षा न बने। बल्कि, दूरियाँ इतनी बढ़े कि उनकी बोलियाँ और शैलियाँ भी उन से अपने स्वाभाविक, ऐतिहासिक, सामाजिक संबंधों को नकार दें। सामासिक एकता के सारे सामाजिक संबंध-सूत्र बाहरी दबाव और आंतरिक तनाव को झेल नहीं पायें और बिखर जाएँ।

इस प्रकार बाजार, धर्म, काम और भाषा की आत्मिक संश्लिष्टता से सामाजिकता और सामाजिक-नैतिकता की जो अभिकेंद्रिकता बनती है उसमें भारी विचलन पैदा कर अपनी तथाकथित नैतिकता के लिए, अर्थात निर्बाध, निर्बंध, अंध, उन्मुक्त, निर्मम और क्रूर भोग के लिए उपयुक्त जगह और मन बनाता है। इसे समझना होगा, तभी उपभोक्ता समाज के मन को ठीक-ठीक पढ़ा जा सकता है। भारत एवं इसके जैसे अन्य विकासशील राष्ट्रों एवं राज्यों में आर्थिक-संवृद्धि के सारे चरणों की अनदेखी

करते हुए बाजारवाद की अपनी माँग और न्यस्त स्वार्थ के कारण आज मनुष्य जाति की बहुत छोटी आबादी के बल पर उपभोक्तावाद का हाँका लगाया जा रहा है तो सामाजिक संतुलन पर इस हाँके से पड़नेवाले खतरों के प्रति हमें सावधान होना ही होगा।

अब, उपरोक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में उपभोक्ता समाज के बुनियादी स्वरूप की समझ को स्वीकार किया जाये तो रोजगारहीन वृद्धिवाले उपभोक्ता समाज के बनते हुए मिजाज को समझा जा सकता है। इससे आर्थिक-संदर्भ, भोग, नैतिकता, धर्म, राजनीति, सामाजिकता, को विवेचित करनेवाले उपभोक्ता समाज के बौद्धिक संकाय की कार्यप्रणाली भी स्पष्ट होती है। ऐसे निर्मम, क्रूर, अनैतिक, असामाजिक, अधार्मिक, अनार्थिक और अनुत्पादक भोगवृत्तिमूलक उपभोक्ता समाज में मनुष्य और साहित्य का भविष्य कैसा और क्या होगा या हो सकता है? निश्चित यह एक विचलित कर देनेवाला सवाल है। यह हताश और निराश कर देनेवाला सवाल है। तो क्या मनुष्य और साहित्य का भविष्य संकटाच्छन्न है? साहित्य आज अपनी सार्थकता प्रमाणित करने की दृष्टि से सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण समय से संबोधित है। साहित्य मनुष्य के प्रत्येक सुख-दुख, स्वप्न-दु:स्वप्न का साथी और साक्षी रहा है। मनुष्य जाति के आँसू भी साहित्य में संघनित होते रहे हैं और उसकी हँसी-खुशी और उसके हास-विलास भी इसमें संजोये जाते रहे हैं। साहित्य निश्चित रूप से मनुष्य जाति का अन्यतम भाव-सहचर है। इसलिए साहित्य का भविष्य चुनौतीपूर्ण भले हो लेकिन संकट की इस घड़ी में भी वह मरणासन्न नहीं है। इस चुनौती का सामना करने के लिए आज साहित्य को नये संकट के परिप्रेक्ष्य में अपने को फिर से पुनर्गठित करना होगा। अपने सामाजिक सरोकारों को फिर से टटोलना और नये सिरे से अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के मर्म और निहितार्थ को पुनर्न्वेषित और पुनर्‌अर्जित करना होगा। समाज विच्युत होती जा रही मनुष्य जाति को सावधान करने के लिए उसे अपने संवेदनात्मक सामर्थ्य का प्रयोग करना होगा। वस्तुओं के अभाव और वस्तुओं के मलवे में फँसे अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य से निरंतर संवाद बनाये रखना होगा। उसे इसके लिए नये रूपविधान और नयी क्षमताओं से युक्त होना होगा। संस्कृति के क्षेत्र में अधिक सचेतन सक्रियता का आरंभ करना होगा। संस्कृति के उत्तम अंश को जनता तक ले जाने का प्रभावी उपक्रम करना होगा। राष्ट्रीय जनतंत्र को मजबूत बनाने के लिए उपलब्ध नये तकनीक का इस्तेमाल करते हुए सत्ता के वास्तविक विकेंद्रीकरण और आत्मानुशासन तथा स्वशासन की भावना को सांस्कृतिक स्तर पर जनस्वीकार्य बनाये जाने के उद्यम से नये सिरे से ताल-मेल बिठाना होगा। सच है कि विरोधी शक्तियाँ अधिक प्रभावी और प्रबल प्रतीत हो रही हैं। लेकिन यह भी सच है कि उपभोक्ता समाज जिसे कहा जा रहा है वह मनुष्य जाति के बहुत ही छोटे-से खाते-पीते अंश को बाजार के पक्ष में मिलाने की संकल्पना के आधार पर बन रहा है। उपभोक्ता समाज के बाहर असली और बहुत बड़ा समाज है। नानाविधि उपाय करने पर भी बाजार

के आका इस वृहत्तर मानव समाज को अपने अंदर समा लेने में कभी भी कामयाब नहीं हो सकते हैं। इसी वृहत्तर और असली मानव समाज के प्रभावी पुनर्गठन में ही पूरी मनुष्य जाति का भविष्य अंतर्निहित है। यही साहित्य के भविष्य की भी गारंटी है। मनुष्य और साहित्य का भविष्य अलग-अलग नहीं है। मनुष्य बचेगा तो, साहित्य बचेगा। मनुष्य बचेगा, जागने और रोनेवाले दुखिया कबीर के वंशज बचेंगे, इस बात पर इस झंझावात में भी निष्कंप विश्वास होना चाहिए। सुखिया लोग तो सदैव अकेले-अकेले खाते और सोते हैं। मुश्किल यह है कि आज ''सभ्य आदमी समूह में/ मिलकर नहीं गाते/ समूह में मिलकर नहीं नाचते/ समूह में मिलकर समय नहीं गँवाते/ सभ्य आदमी अकेले रहना पसंद करते हैं/ सभ्य आदमी समूहों में नहीं पाये जाते हैं'' (सच पूछो तो/ सभ्यता और संस्कृति/ भगवत रावत)। सामाजिक सामूहिकता के फलस्वरूप ही मानवीय सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। इसलिए साहित्य को भीड़ में अकेले पड़ते जा रहे मनुष्य के साथ खड़ा होना होगा तथा इस अकेले-अकेले के मनोभाव को संवेदनात्मक उपक्रम से तोड़ना और सामाजिक सामूहिकता को फिर से हासिल करना ही होगा। इसके लिए अलोचना की सामाजिकता पर बहुत ही गहराई और विवेक से विचार करना साहित्य का सामाजिक दायित्व है।

आज संस्कृति का नेतृत्व किन के हाथ में है? जिनके हाथ में है उनके दिमाग में जनतंत्र के प्रति सच्चा सम्मान और समर्पण कितना है? पिछली शताब्दी में भारतीय मन में, और सही बात तो यह है कि पूरी दुनिया के आम जन में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के मानवीय माहौल के स्वागत में जो अल्पना रची गई थी उसका रंग बहुत तेजी से इस शताब्दी के आरंभ में ही उदास हो गया है। मुक्तिबोध के शब्दों को याद करें, ''आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्ग के हाथ में है--- जिनमें उच्च मध्यवर्ग भी शामिल है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे, अनिवार्यत:। यह बदल सकती है। और, जब बदलेगी, तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फ़ाख्ता हो जायेंगें। संस्कृति का नेतृत्व करना जिस वर्ग के हाथ में होता है, वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनी जीवन-दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परंपरा बन जाती है। यह परंपरा भी इतनी पुष्ट, इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित होती है, कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जब अनेक सामाजिक राजनीतिक कारणों से निम्न-जन-श्रेणियाँ उदबुद्ध होकर, सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती है तब वे उन पुराने चले आ रहे भाव-प्रभावों, विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों को इस प्रकार संपादित और संशोधित कर लेती हैं, कि जिससे वे अपने अज्ञान की परिधि में ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, समाज-रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव में, वे निम्न-जन-श्रेणियाँ, अपनी सामाजिक-राजनीतिक विकासावस्था के अनुरूप,

पुरानी विचारधाराओं ही का संपादन संशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आंशिक विस्तार कर लेती हैं। किंतु अंतत:, संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओं से हारना ही पड़ता है। मेरा मतलब कबीर जैसे निर्गुणवादी संतों की श्रेणी से और उस श्रेणी में आनेवाले लोगों से है। समाज के भीतर निम्न-जन-श्रेणियों का वह विद्रोह था, जिसने धार्मिक-सामाजिक धरातल पर स्वयं को प्रस्थापित किया। आगे चलकर, निर्गुणवाद के अननंतर, सगुण भक्ति और पौराणिक धर्म की विजय हुई, तब संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। यह आवश्यक नहीं कि आगे चलकर ये निम्न-जन-श्रेणियाँ चुपचाप बैठी रहें। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वयं संस्कृति का नेतृत्व करेंगी, और वर्तमान नेतृत्व अध:पतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात से वे डरें जो समाज के उत्पीड़क हैं, या उनके साथ हैं हम नहीं क्योंकि हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं--- हम चाहे जहाँ उग आते हैं। गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।''(मुक्तिबोध रचनावली-4) मुक्तिबोध ने यह बात गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर कही थी। किंतु आज की स्थिति क्या है? पुराने विधाताओं के नये जाल में फँसा हमारा समाज दम तोड़ने के कगार पर पहुँचता जा रहा है। विधाताओं और विधायकों, विधिवेत्ताओं में कौन है जो हमारे साथ है? 'राम की शक्तिपूजा' में दुख के नैश अंधकार में निराला के राम की यह वेदना कि 'जिधर अन्याय है, उधर ही शक्ति है'; आज भी बहुत बड़ी आबादी का सच है! नागार्जुन को याद करें तो हमारे समय का प्रमुख राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व भी कुंवर नरायण के ला-ला अशर्फीलाल की पालकी ढोने के लिए पहले के किसी भी समय के नेतृत्व से अधिक उतावला हो रहा है।

आज की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थिति फिर एक बार घूम फिर कर वहीं खड़ी हो गई है जहाँ संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। आज हमारे पास यह आस्था भी नहीं बची है कि जोर गले से कह सकें, 'हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं-- हम चाहे जहाँ उग आते हैं।' आस्था इसलिए नहीं बची है कि कहीं-न-कहीं स्वतंत्रता और समृद्धि के विकल्प में से हमने समृद्धि के विकल्प को अपनाने का मन बना लिया है। आस्था इसलिए नहीं बची है कि गरीबी की मार झेलते-झेलते और आर्थिक पगबाधाओं को पार करते हम इतने थक चुके हैं कि यह प्राथमिक पाठ ही भूल गये कि स्वतंत्रता से समृद्धि आ सकती है किंतु समृद्धि से स्वतंत्रता नहीं आ सकती है। हम भूल गये कि स्वतंत्रता निर्विशिष्ट मनुष्य के जनतांत्रिक अधिकारों के प्रति सच्चे आदर से हासिल होती है। हम भूल गये कि स्वतंत्रता अपने-आप में बहुत बड़ी समृद्धि है। हम भूल गये कि 'संतुष्ट सूअर से अधिक श्रेयस्कर है असंतुष्ट मनुष्य होना'। 'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं' जैसे मूल सांस्कृतिक संदेश को भी हम भूल गये। इन भूले हुए पाठों को फिर से नये अर्थ-संदर्भ के साथ पढ़े जाने की जरूरत है।

सामाजिक रूप से दलित का पुराना संदर्भ अभी समाप्त हुआ नहीं है और मानव समाज का बहुत बड़ा हिस्सा नव-दलन के खतरों के सामने खड़ा है। नव-दलन के खतरों से निपटने के लिए समाजिक दलन के पुराने पाठ के भारतीय संदर्भों को न सिर्फ समझना होगा बल्कि उससे लड़ना भी होगा। खतरा तो यह भी है कि सामाजिक दलन के पुराने पाठ का प्रयोग नये दलशाह नव-दलन के लिए हथियार के रूप में न कर लें। इस गंभीर सवाल पर विचार करना होगा। अन्यथा न तो इस वेदना को को समझा जा सकेगा कि क्यों दलित चेतना स्वानुभूति और सहानुभूति का मामला उठाकर संपूर्ण हिंदी साहित्य को सवर्ण हिंदुओं का साहित्य मान रही है और न इस वेदना को ही समझा जा सकेगा कि दलित चेतना शोषणविहीन समाज के लिए किये जानेवाले संघर्ष में 'वर्ग' के साथ 'वर्ण' को भी शामिल करने के लिए आग्रहशील क्यों है? वर्तमान भारतीय राज्य के द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होने के बावजूद हिंदू समाज में 'वर्ण' आज भी एक जिंदा सच है। एक ऐसा सच जिसका दुष्प्रभाव अन्य समाजों तक पसरा हुआ है। एक ऐसा जिंदा सामाजिक सच जो आज भी आंतरिक गुलामी और सामाजिक हिकारत का आधार कारण बन रहा है। साबित हो चुका है कि राज्य में अपनी संवैधानिक मान्यता के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देने की इच्छा-शक्ति में न सिर्फ निरंतर गिरावट आई है, बल्कि कई बार वह अपनी संवैधानिक मान्यता के विपरीत कार्यशील प्रवृतियों का भी पोषण करती है। ऐसे में, बांछित सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देने की जिम्मेवारी खुद समाज पर आती है और कई बार राज्य से टकराव के रूप में ही इसकी अभिव्यक्ति हो पाती है। ऐसे में, शोषणमुक्त समाज को हासिल करने के लिए शोषण के 'वर्ग' आधार के साथ 'वर्ण' आधार को भी स्वीकारना, समझना और संघर्ष करना सामाजिक परिवर्तन की सृजनशीलता से जुड़े किसी भी प्रयास का दायित्व है। साहित्य भी सामाजिक परिवर्तन से जुड़ा ऐसा ही एक प्रयास है, खासकर वह साहित्य जो जनवाद और प्रगतिशीलता से किसी भी स्तर पर अपने को जोड़ता है। स्वाभाविक ही है कि साहित्य सृजन और विवेचन में 'वर्ग' साथ 'वर्ण' के अस्तित्व को भी स्वीकारना एवं समझना अनिवार्य ही है। नव-दलन के खतरों और समाजिक दलन के पुराने पाठ को न सिर्फ समझने बल्कि साहित्य इससे जोड़ने के लिए अलोचना को अपनी सामाजिकता की तलाश में इन दोनों ही पृथक प्रतीत होती वेदना के बीच की सूत्रात्मक एकता से विकसित 'नये हम' की नई दृष्टि के साथ आगे बढ़ना है। नये संदर्भ में, ये दोनों ही पृथक प्रतीत होती वेदना असल में एक ही सामाजिक सच्चाई के दो पहलू हैं, इसे समझना होगा। राष्ट्रीय-जनतंत्र के गठन के इतने वर्षों के बाद भी सवर्ण और दलित संवेदना के अंतराल में जो अंधबिंदु बना हुआ है उसे दृष्टिबिंदु में बदलना आलोचना की सामाजिकता के लिए आज बहुत जरूरी है।

आलोचना का संबंध प्रश्नाकुलता से है। नामवर सिंह ने आलोचना के दायित्वों की ओर संकेत करते हुए ध्यान दिलाया है, ''आलोचना का कार्य बराबर रहा है प्रतिष्ठाओं के सामने,प्रतिष्ठितों के सामने प्रश्न चिह्न लगाना और जो उपेक्षित स्तर के हैं और भविष्य के लिए अपेक्षित हैं उन लोगों के लिए शर्म की बात नहीं है बल्कि प्रवक्ता बनना साहित्य धर्म और आलोचना के अनुशासन का पालन ही करना है। संघर्ष समाज में, जीवन में जिस तरह हक के लिए होता है उसी तरह से आलोचना में भी बराबर होता है। आलोचना संघर्ष की प्रक्रिया है आस्वाद नहीं।'' (कथादेश- जून 2002) निश्चित रूप से आलोचना सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया भी है सिर्फ आस्वाद नहीं। जहाँ शासन ठीक नहीं वहाँ शासन का अनुसरण यानी अनु-शासन, चाहे वह काव्यानुशासन ही क्यों न हो, कैसे और कितना निरापद हो सकता है! काव्य-शास्त्र या काव्यानुशासन और आलोचना में यही तो अंतर है कि काव्य-शास्त्र काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति दोनों को काव्य-संरचना की आंतरिक शक्ति मानकर चलता है जब कि आलोचना काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति को सामाजिक-संरचना की आंतरिक-शक्ति मानकर अपना काम करती है। काव्य-शास्त्र प्रतिमान तलाशता और बनाता है आलोचना प्रतिपथ तलाशती और बनाती है। प्रतिमान अनुल्लंघ्य होते हैं और प्रतिपथ अनुसरणीय होते हैं। काव्य-शास्त्र आप्त-वचन बनाता और उसे प्रमाण मानता है। आलोचना प्रश्न करती है और किसी आप्त-वचन को अंतिम प्रमाण मानकर नहीं चलती। काव्य-शास्त्र काव्य को आस्वाद से जोड़ता है और आलोचना काव्य को सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया से जोड़ती है। आज अलोचना और साहित्य की प्रमुख चुनौतियों में एक चुनौती यह भी है कि आलोचना की संघर्ष प्रक्रिया को-- रचना और इसलिए जीवन प्रक्रिया के संघर्ष को भी--- कैसे आस्वाद से जोड़ा जाये। संघर्ष में हर्ष के संपुट के लिए आवश्यक है कि सकारात्मक संघर्ष की हर प्रक्रिया को आस्वाद के आशय से संपृक्त किया जाये। इसके लिए आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है। और यह कोई निरपेक्ष परख नहीं होती है बल्कि अपने समय और समाज की सापेक्षता एवं प्रसंगानुकूलता में ही संभव होती है। इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में अलोचना की सामाजिकता का प्रश्न उभरता है।

ध्यान में यह रखा ही जाना चाहिए कि सामाजिक अंधविश्वास को दूर करने, प्रश्नाकुल विश्वास की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने, जनतंत्र के शुभ-लाभ के जनसुलभ होने को सुनिश्चित करने के सामाजिक स्वप्न को साकार करने के क्रम में होनेवाले भाव-विचार-संघर्ष की सामाजिक प्रक्रिया को रचनात्मक आस्वाद की प्रक्रिया से जोड़ने में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपायों की भूमिका परीक्षणीय है। परीक्षणीयता के इसी संदर्भ में आलोचना की सामाजिकता का सरोकार बसता है। जन-समुद्र की अतल गहराइयों में कुशल

गोताखोर की तरह उतरकर उसकी संघर्षशीलता, आस्था और स्वप्निल यथार्थ के रत्न बटोर कर लाने और जन के हाथों में उसे सादर समर्पित करने की प्रक्रिया का नवोन्मेष आज की साहित्यिक आलोचना की सामाजिकता का सरोकार रचता है। यह कोई आसान काम नहीं है। इस कठिन सबक को पूरा करने के लिए अनिवार्यत: 'भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित' रचनाशीलता का ही सहारा लेना होगा। स्वाभाविक ही है कि नामवर सिंह जब मार्क्सवाद को राजनीतिक दर्शन के साथ-साथ एक विश्व दृष्टि भी कहते हैं और रचना के लिए इस विश्व-दृष्टि को ही अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं तो उनके इस निष्कर्ष के मर्म को आज नये सिरे और नई अर्थवत्ता के साथ ग्रहण करने और बरतने की जरूरत है। नई अर्थवत्ता के इस ग्रहण और बरताव को अमल में लाने के लिए आलोचना में सामाजिक सरोकार के नवोन्मेष की अवश्यकता है। इस नवोन्मेष के संदर्भ में मुक्तिबोध के निष्कर्ष याद आते हैं, ''साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होनेवाले ज्ञान-संवेदन तथा संवेदन-ज्ञान में ही है।'' मुक्तिबोध बताते हैं, ''साहित्य-विवेक मूलत: जीवन-विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति से विश्लेषण की बात ही क्या! बगैर जीवन को जाने, बगैर जिंदगी को पहचाने, जो आलोचक केवल जीवन की गूँजों (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है, उसको किसी-न-किसी हद तक यांत्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है।'' (मुक्तिबोध रचनावली- भाग 5)

सामाजिक सरोकार से जुड़े जन-लेखन के महत्त्व को नये सिरे से समझना आलोचना की सामाजिकता की प्राथमिक जरूरत है। सामाजिक सरोकार की तलाश में इस यांत्रिकता से आज मुक्त होने की जरूरत है। जरूरत हर प्रकार की यांत्रिकता के खतरे को पहचानने और उस के साथ रचनात्मक संघर्ष को चलाये रखकर उस के सर्वात्मक दुष्प्रभाव से जीवन को बचाने का है। नामवर सिंह के शब्दों में ''जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है।'' आज के लेखक को यांत्रिकता की चपेट से जीवन को बचाने के सांस्कृतिक उपक्रम के लिए इस कठोर अग्निदीक्षा के लिए तैयार होना ही होगा। आज के लेखक में निश्चित तौर पर आलोचक भी शामिल हैं। शामिल ही नहीं हैं बल्कि आलोचकों का दायित्व दुहरा है। पिछली सदी गवाह रही है कि यांत्रिकता के खतरों का जितना दुष्प्रभाव रचना पर पड़ा उस से कहीं अधिक आलोचना पर पड़ा है। यह भी कि यांत्रिकता का रचना पर पड़नेवाला प्रभाव मुख्य रूप से आलोचना के मार्फत ही पड़ा है। इसलिए, आलोचना को यांत्रिकता के खतरों के दुष्प्रभाव से न सिर्फ अपने को बचाने के लिए संघर्ष करना है बल्कि रचना भी किसी भी तरह की यांत्रिकता के खतरों की चपेट में न आये इसके लिए

भी सचेष्ट और स-तर्क रहना है। रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही स्तर पर सामाजिक सरोकार के नवोन्मेष से ही यह काम होगा।

अशोक वाजपेयी 'कुछ पूर्वग्रह' में 'आलोचना की जरूरत' पर ध्यान देते हुए जो निष्कर्ष निकालते हैं उन पर ध्यान देना चाहिए, उन्हीं के शब्दों में, ''ऐन इस वक्त आलोचना-बुद्धि को एकाग्र सक्रिय रखना और उसे रचनात्मक प्रयत्न का अनिवार्य तत्त्व बनाना, संघर्ष की सार्थकता और और उसके सफल और कारगर होने की संभावना बढ़ाना है। संघर्ष के संदर्भ में ईमानदारी की ऐसी कोई भी परिभाषा अधूरी और ना काफी होगी जो अलोचना-बुद्धि की अनिवार्यता को स्वीकार न करती हो।'' आगे वे यह भी बताते हैं, ''आज का अधिकांश लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्राय: इसका रचनात्मक अन्वेषण करता और उस पर निर्णय देता है। आलोचना भी अंतत:, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं का सहारा लेती है। उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तु-स्थिति की अपनी समझ है। जाहिर है इस समझ का वह समकालीन लेखन को जाँचते परखते वक्त इस्तेमाल करेगी।''

आलोचनात्मक विवेक की जड़ से ही जीवन-विवेक, कवित्त-विवेक, सामाजिक-विवेक जैसे अनेक फूल खिलते हैं। इन फूलों की नाना पंखुड़ियों के खिलने से ही जीवन की बगिया में बहार आती है। मुक्तिबोध बताते हैं, ''काव्य में केवल अवचेतन या अचेतन मन ही प्रकट नहीं होता है; कवि के अनजाने, अचेतन रूप से उस कवि का चरित्र भी प्रकट होता जाता है। कवि का जो कथ्य है, वह भिन्न है। अपने चरित्र की अभिव्यक्ति कवि का कथ्य नहीं है। फिर भी काव्य में कलाकार का चरित्र प्रकट होता रहता है। दूसरे शब्दों में, कवि अपने हृदय में संचित तत्त्वों का जो चित्रण करता है, उन तत्त्वों के अतिरिक्त वह अन्य अनेक बातें सूचित कर जाता है, कह जाता है, चित्रित कर जाता है। हाँ वैसा करना उसका उद्देश्य बिल्कुल नहीं है। वह तो केवल अपना कथ्य प्रस्तुत कर रहा है। कथ्य शब्दबद्ध करना ही उसका उद्देश्य है। किंतु कथ्य चित्रित करने के साथ-साथ कवि अपने अनजाने में बहुत कुछ और कह जाता है। संक्षेप में, कवि कथ्य के माध्यम से अपने अनजाने में अपना चरित्र प्रस्तुत कर जाता है। चरित्र अंतर और बाह्य से सामंजस्य की स्थापना के, द्विविध और द्वंद्वात्मक किंतु एकीभूत प्रयत्नों की प्रक्रिया में, उस प्रक्रिया के दौरान में, वह बनता और बढ़ता है, निर्मित और विकसित होता है। सहस्त्रों वर्षों से चली आ रही वर्गविभाजित सभ्यता के अंतर्गत, व्यक्ति-चरित्र अपने वर्ग के तत्त्वों को आत्मसात करता है, बिल्कुल बाल्यकाल से ही। ये वर्ग तत्व हैं--- जीवन-यापन-पद्धति और आदर्श दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य तथा भावों की वह परंपरा, जो समाज के भीतर अपने वर्ग में उपस्थित मानव-संबंधों तथा मानव-स्थिति के बारे में

होती है, तथा वर्गाभ्यांतर मानव-स्थितियों और मानव-संबंधों में कुछ फेरफार होते ही, जो (भाव-परंपरा) बदलने लगती है।'' इस 'जीवन-यापन-पद्धति' पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

उत्कटतम रूप में देखने की इच्छा के बने रहने का ही परिणाम है, आँखों का विकास। तात्पर्य यह कि देखने की क्षमता में देखने की इच्छा का बड़ा योगदान है। स्वभावत:, देखने की जितनी बड़ी इच्छा होती है देखने की उतनी ही बड़ी क्षमता भी विकसित होती है। कहते हैं कि हिंदी कविता के सूर कवि जन्मांध थे। लेकिन यह देखने की उत्कट इच्छा ही रही होगी जिसके कारण सूरदास में देखने की वह क्षमता विकसित हुई जो क्षमता आँखवालों में भी किसी-किसी में ही पाई जाती है। आँखवालों ने कभी मन से यह नहीं माना कि सूरदास जन्मांध रहे होंगे। देखने की यह इच्छा और यह क्षमता सिर्फ शरीरी आँख तक ही सीमित नहीं होती है, इसलिए देखने के कारोबार में एक प्रकार के अशरीरी, सूक्ष्म और गुप्त आँख के अस्तित्व को भी किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया जाता है, कभी दिव्य दृष्टि के रूप में तो कभी भीतरी संज्ञा के रूप में। जो हो, कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य ही बचा रह जाता है जो दृष्टि-बोध से बाहर बना रहता है। वैयाकरण बताते हैं कि 'आलोचना' का विकास उसी 'लुच्' धातु से हुआ है जिस 'लुच्' धातु से 'लोचन' शब्द विकसित हुआ है। आलोचना साहित्य और समाज में निरंतर बन रहे 'अंधबिंदु' को 'दृष्टि-बिंदु' में बदलने का काम निरंतर करती रहती है। ज्ञानी लोग तो कभी-कभी यह भी साबित कर देते हैं कि 'जो होता है, वह दीखता नहीं है और जो दीखता है वह होता नहीं है।' होने और दीखने का यह खेल बड़ा ही निराला है, इसे सृष्टि में जारी आँख-मिचौली भी कहा जा सकता है। चतुर-सुजान प्रतिभाशील लोग इस 'देखने और होने' के बीच में अपनी पैठ, अपनी अर्थक्रीड़ा एवं अपने मनोरथ के लिए 'मनोहारी गुंजाइश' भी बना ही लेते हैं। इस 'मनोहारी गुंजाइश' के बारे में जो छवि उभरती है उस पर मुग्ध होने के साथ-साथ दर्पण को पीछे से परखने की बुद्धि भी आदमी के पास होती है। अपनी इसी बुद्धि के सहारे मनुष्य छाया और काया में अंतर करने में सक्षम होता है। दर्पण में अपनी छवि के आर-पार भी देखने का साहस जुटाता है। और अपने से भी एवं जगत से भी पूछता चलता है --- 'मुखड़ा क्या देखा दरपन में !'

प्रकाश और अंधकार या आलोक और छाया के, प्रणय एवं कलह की ही नहीं, प्रणय-कलह और अंतर्केलि के लिए भी जीवन में सदैव जगह बनी रहती है। इसी जगह का अपने पक्ष में इस्तेमाल करते हुए कुछ लोग चाँदनी की मादकता के हवाले से रात के अंधकार की वकालत करते हैं। समझदार जानते हैं कि उधार की रोशनी में मादकता चाहे जितनी हो उसमें जीवन को खुशियों के रंगों से सजानेवाले इंद्रधनु रचने की क्षमता बिल्कुल नहीं होती है। जीवन में प्रकाश और अंधकार दोनों के लिए जगह बनी

रहती है क्योंकि ये दोनों ही एक ही दृष्टि-सूत्र के दो छोर हैं। सिर्फ और शुद्ध ज्ञान आदमी के लिए पर्याप्त नहीं होता है। ज्ञान भी आदमी को भरमाता है, छलता और मारता है। कबीर जिन्हें ज्ञानमार्गी खाने में रखा जाता है, वे ज्ञान की आँधी की विनाशक क्षमता के प्रति बराबर स-तर्क और सावधान रहते और करते हैं। गृहस्थ लोग जानते हैं, जीवन में देखना महत्त्वपूर्ण होता है तो अन-देखना भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि जीवन में अंधबिंदु का भी अस्तित्व सदैव बना रहता है। यह अंधबिंदु फैलकर चाहे जितनी बड़ी रेखा क्यों न बनाये, लेकिन वह रेखा मनुष्य के इच्छा-विस्तार और पराक्रम के लिए अनुल्लंघ्य सीमा-रेखा नहीं बन जाती है। अंधबिंदु भी अपनी जगह बना रहते हैं और दृष्टिबिंदुओं के विकास के लिए मनुष्य के प्रयास भी किसी-न-किसी प्रकार से जारी रहते हैं। इस प्रयास से ही दृष्टि का विकास और दृश्य का विस्तार होता चलता है। मनुष्य एक-से-एक जोखिम उठाता है और अंधी छलांग भी लगाता चलता है। यह मानना पड़ेगा कि मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में अंधी छलांगों का अपना महत्त्व रहा है। प्रयास और भूल, भूल और सुधार के माध्यम से ही यह सभ्यता वकसित होती गई है। बेहतर मानवीय समाज के नवनिर्माण के लिए आज अलोचना के क्षेत्र-विस्तार और सामाजिक सरोकार के संभावनाओं की तलाश में हमारे सामने कहीं-न-कहीं इस अंधी छलाँग की तैयारी की भी गहरी चुनौती है। क्योंकि इतना गहरा और गाढ़ा अंधकार पहले नहीं था। हमारे समय का काल-बोध सिर्फ आगामी को ही संगामी नहीं बनाता है बल्कि बड़ी तत्परता से विगत को पुनर्जीवित करने का भी स्वागत करता है। विनोदकुमार शुक्ल को याद करें तो, इससे जो अँधेरा बढ़ रहा है वह साधारण अँधेरा नहीं है। पृथ्वी पहली बार अंधकार से आच्छन्न नहीं हुई है। लेकिन इस बार का अँधेरा पहले के अँधेरे से बहुत भिन्न और खतरनाक है। यह अँधेरा आठवीं सदी का है और शायद उस सदी का भी जो अभी आई नहीं है। पृथ्वी के अंधकार में, पहला पुरुष अकेला नहीं था, न पहली स्त्री। सूर्योदय का रंग, अंधकार में, दोनों के साथ होने से बन रहा था। और आज? साथी पाना ही तो असंभव होता गया है। हर हाल में भरोसा बचाने के लिए तत्पर साथी का साथ तो चाहिए ही। आज हम साथ होने को जानते हैं। साथी को नहीं जानते। 'साथी' को जाने बिना 'साथ' को बहुत देर तक बचाये रखना मुमकिन नहीं हो सकता है। साथी को जानना होगा और कहना होगा साफ-साफ--- ''मेरा तो पहले से तै है/ आना है जिनको वो आयें/ या ना आयें, वहाँ मुझे/ तो हर हालत में जाना ही है।/ वहाँ पहुँचने, सभा लगाने/ से क्या होगा नहीं जानता/ लेकिन इतना तै है कि रुक/ जाऊँ अगर तो टूटेगा विश्वास/ और यही तो हर हालत में/ हमें बचाना, चलिए साथी!'' (नये इलाके में - यही बचाना - अरुण कमल)। सामाजिक सत्य को कंचन के आश्रय से बाहर निकालकर, हिरण्य-गर्भ से बाहर निकाल कर सामान्य आदमी के जनतांत्रिक-स्वप्न-गर्भ में संचित करने के लिए हमें बार-बार सत्य को पुकारना होगा। उसके साथ बहुत दूर-दूर तक भटकने के लिए तैयार होना होगा। क्योंकि, ''जब हम सत्य

को पुकारते हैं/ तो वह हम से परे हट जाता है/ जैसे गुहराते हुए युधिष्ठिर के सामने से/ भागे थे विदुर और भी घने जंगलों में// सत्य शायद जानना चाहता है/ कि उसके पीछे हम कितनी दूर तक भटक सकते हैं ''(सब की आवाज के पर्दे में - सत्य - विष्णु खरे)।

आलोचना की सामाजिकता और सामाजिकता की आलोचना के द्विमुखी प्रश्न के समग्र उत्तर को जीवन के बहुमुखी आशय से जोड़ना ही होगा। अपनी बात करें तो, हिंदी समाज को इस कठिन चर्या के लिए तैयार होना है। इस तैयारी में हिंदी साहित्य को भी शामिल होना है। मुक्तिबोध को याद करते हुए हम कह सकते हैं कि साहित्य के सामाजिक सरोकार के प्रति आस्था रखनेवाले हर किसी को आज सब से पहले अपने निजत्व से ऊपर उठने के लिए आत्मसंघर्ष करना है। निजत्व से ऊपर उठे बिना अभिव्यक्ति के तत्त्व के लिए संघर्ष सार्थक नहीं हो सकता है। अभिव्यक्ति-तत्त्व ही हासिल न हो तो फिर अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष की कोई सार्थकता नहीं बनती है। संभवतः यहीं अभिव्यक्ति के खतरे को उठाने के संघर्ष को सही ढंग से समझा जा सकताहै। सार्थक और दुर्निवार अभिव्यक्ति के लिए किये जानेवाले संघर्ष की इस त्रिकोणमिति को साधने के बाद ही हम इस शशधर-तारा हीन गहरे अंधकार में अपने सामाजिक संघर्ष का लालटेन जला सकेंगे। ध्यान में होना ही चाहिए कि यह, ''लालटेन जलाना उतना आसान नहीं है/ जितना उसे समझ लिया गया है।'' (सब की आवाज के पर्दे में - लालटेन जलाना - विष्णु खरे)।

इस कठिन काम को करने में 'निंदक' भी सहायक होते हैं, यह समझना और समझाना रचना और आलोचना की सामाजिकता पर बात करने के लिए आवश्यक है--- 'निंदक को नियरे रखिये'।

आलोचना की संस्कृति



प्रफुल्ल कोलख्यान

हुई मुद्दत कि ग़ालिब मर गया, पर याद आता है
वह हर इक बात पर कहना, कि यों होता, तो क्या होता।

-ग़ालिब [1]

आलोचना मनुष्य की नैसर्गिक और इस अर्थ में मौलिक प्रवृत्ति है। मनुष्य के स्वभाव की निर्मिति में ही ऐसी कोई बात निहित है कि न तो बड़ी-से-बड़ी सफलता ही उसे पूर्ण संतुष्टि देती है और न प्रयास की बड़ी-से-बड़ी विफलता ही उसे अंतिम रूप से हताश कर पाती है। उपलब्ध के विकल्प की तलाश की प्रवृत्ति ने मनुष्य की संस्कृति को समृद्ध किया है। उपलब्ध के विकल्प की तलाश के क्रम में आलोचना का विकास होता है। इस विकल्प की तलाश में मनुष्य 'यह हुआ तो, यह हुआ' का संधान करता है। मनुष्य सदैव सोचता रहता है कि 'यों होता, तो क्या होता'। 'यह होने, से यह होगा' का अनुमान करते हुए ही मनुष्य विज्ञान और प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ता रहा है। इस तरह आगे बढ़ने में आलोचना की वृत्ति मनुष्य की मुख्य नियामिका शक्ति है। आलोचना के विकास को सांस्कृतिक परंपराओं के ऐतिहासिक संदर्भों में देखने से बहुत सारी बातें स्वत: स्पष्ट हो जाती हैं।

आलोचना का आशय और उपादान

व्याख्या, दर्शन, विवेचन, विमर्श, जैसे कतिपय संकाय आलोचना के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं, आलोचना के पर्याय नहीं। आलोचना एक साहित्यिक विधा है, किंतु इसे साहित्य तक सीमित मान लेना भूल होगी। आलोचना का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना कि साहित्य में। बल्कि सच तो यह है कि जीवन में महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही आलोचना साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य में मनुष्य के सारे प्रसंगों के लिए अवसर होता है। साहित्य के मूल में जीवन की आलोचना की मार्मिक निर्मिति सक्रिय रहती है। एक साहित्यिक विधा के रूप में 'आलोचना' के मूल में साहित्य रहता है। इस प्रकार साहित्यिक आलोचना के मूल में जीवन की आलोचना की आलोचना होती है। यहीं, इस बात को धैर्यपूर्वक समझा जा सकता है कि वस्तुत: 'साहित्यालोचन' के अंतर्मन में जीवन के होने के कारण ही आलोचना की नजर साहित्य पर टिकी होती है। साहित्य के आलोचक के सामने भी जीवन अपनी समग्रता, संश्लिष्टता, जटिलता और संवेदनशीलता के साथ उसी तरह उपस्थित रहता है, जिस तरह कि कवि, उपन्यासकार, कथाकार, आदि के सामने उपस्थित रहता है। यहीं साहित्य की अन्य विधाओं से आलोचना का वैशिष्ट्य स्पष्ट होता है। साहित्य की अन्य विधाओं के सामने जहाँ सिर्फ जीवन और पाठ में अंतरित होनेवाला जीवन का कथ्य होता है, वहीं आलोचना के सामने जीवन के साथ-साथ जीवन और पाठ में अंतरित हुए कथ्य की अन्य आलोचनात्मक एवं मार्मिक निर्मितियाँ, अर्थात साहित्य की अन्य विधाएँ भी होती हैं। रचना और आलोचना की कार्य-प्रक्रिया से यह बात साफ हो सकती है कि साहित्य जीवन के कथ्य को पाठ में बदलता है और आलोचना जीवन के कथ्य के इस पाठ को कथ्य में बदलती है। एक उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो सकती है। आम किसान के जीवन के कथ्य को अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचंद होरी के पाठ में बदलते हैं और 'गोदान' की आलोचना होरी के इस पाठ को आम किसान जीवन के कथ्य में बदलती है। प्रत्यांतरण प्रक्रिया के अंतर्गत इसी बिंदु पर कभी-कभी साहित्य की अन्य विधाओं के साथ आलोचना के टकराव की भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह टकराव सदैव अबांछनीय ही नहीं होता है, इसके मूल में आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-बौद्धिक परिस्थितियाँ और इन परिस्थियों की अपनी-अपनी समझ भी होती है।

साहित्य की अन्य विधाओं से जुड़े लोग कई बार जाने-अनजाने आलोचना को साहित्य तक सीमित कर देने का समर्थन करने लग जाते हैं, कई बार आलोचना के 'साहित्य' होने पर भी संदेह व्यक्त करते हैं। ऐसे लोग मानते हैं कि उनके द्वारा निर्मित जीवन की मार्मिक छवियों का मिलान मूल जीवन से नहीं किया जाना चाहिए। तर्क यह कि 'साहित्य और जीवन में बहुत बड़ा अंतर होता है'। साहित्य और जीवन में अंतर तो होता है, लेकिन यह अंतर साहित्य के जीवन-निरपेक्ष हो जाने का आधार नहीं बन सकता है। ऐसे लोग जीवन के मूल परिप्रेक्ष्य में साहित्य की प्रामाणिकता की परख की किसी भी प्रेरणा से साहित्य को दूर रखना चाहते हैं। कहना न होगा कि ऐसे लोग साहित्य को स्वत:-प्रमाण एवं स्वयं-सिद्ध मानते हैं। ऐसे लोग कला की स्वायत्तता एवं जीवन प्रसंगों की अतुलनीयताओं के जोरदार समर्थक होते हैं और कला को उसका अपना प्रयोजन खुद मानते हैं। ऐसी मान्यताएँ साहित्यकार को 'प्रजापति' की भूमिका में ला खड़ा करती है– कवि 'प्रजापति' और 'स्वयंभू परिभू' हो जाता है! 'प्रजापति' और 'स्वयंभू परिभू' होने के मोह से

बचना थोड़ा मुश्किल तो होता ही है! इस भावाडंबर में साहित्यकार अपने को सामान्य लोगों से इतर कुछ मानने लग जाता है। जीवन और साहित्य में चाहे जो अंतर हो, सामान्य लोगों और साहित्यकार में कोई तात्त्विक अंतर नहीं होता है। भावाडंबर में इस बात को छुपा लिया जाता है कि सामान्य लोगों की तरह ही साहित्यकार का भी जीवन होता है, उसके सुख-दुख होते हैं, लोभ-मोह होते हैं। साहित्यकार के खुद का अस्तित्व ही जब स्वायत्त नहीं होता है, तब उसके साहित्य की स्वायत्तता की बात में या तो नादानी हो सकती है या फिर शैतानी। नादानी और शैतानी से अलग होकर सोचने पर यह बात तुरंत समझ में आ सकती है कि मनुष्य इसलिए भी मनुष्य हो सका है कि उसके अंतर्मन में विन्यस्त ‘मनुष्य बनने की चाह’, न सिर्फ ‘देवता बनने की चाह’ को सदा पराजित करता रहा है, बल्कि अ-मानुष बन जाने एवं बना दिये जाने की मजबूरियों से भी लगातार संघर्ष करता रहा है। मनुष्य के इस संघर्ष को साहित्य इस तरह से समझता है कि ‘बसकि दुश्वार है, हर काम का आसाँ होना/ आदमी को भी मुय्यसर नहीं इन्साँ होना’[2]। साहित्य न सिर्फ इस संघर्ष को समझता है, बल्कि करता भी है।

काव्यशास्त्र और आलोचना के द्वंद्व को ध्यान में लाना चाहिए। शास्त्र कवि को ‘प्रजापति की पूजनीयताओं के उत्कर्ष’ के वैशिष्ट्य से आच्छादित करता है। आलोचना कवि को ‘प्रजा की संघर्षशीलताओं के हर्ष’ के पर्यावरण में अनावृत्त करती है। आलोचना का जन्म जीवन-संबंधों के गुणसूत्रों की अंतर्बद्धताओं के विकल्पों की तलाश में हुआ है। कहना न होगा कि आलोचना का विकास आप्त-वचनों, स्वत:-प्रमाणों और स्वयं-सिद्धियों के दुष्चक्रों[3] से बाहर निकलने के लिए असहमतियों की डोर पकड़ जीवन की जमीन पर निरंतर आगे बढ़ते रहने से हुआ है। साहित्य जीवन की आलोचना का उपादान भी है और निमित्त भी। साहित्य और आलोचना का संबंध निमित्तोपादन का होता है। जीवन-संबंधों के विकल्पों की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्रा जारी रहती है। साहित्य जीवन तो नहीं होता, हाँ जीवन का चित्र जरूर होता है। इस अर्थ में साहित्य ‘चित्र-तुरंग न्याय’ के निहितार्थ से एक जीवन होता है।

आलोचना जीवन के परिप्रेक्ष्य का संधान करती है। मनुष्य का जीवन सदैव संघर्ष में रहा है। जीवन निबाह ले जाना सचमुच कठिन काम है। देह धरे के दंड को कबीर ने अने समय में अपने तरह से महसूस किया था, ‘देह धरे का दंड है, सब काहू को होय। ज्ञानी भुगते ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय।।’[4] ज्ञानी-अज्ञानी हर किसी का जीवन दुख से भरा है। यह दुख किसी एक रंग और एक ही तरीके का नहीं होता है। जितना वैविध्यपूर्ण जीवन है उतना ही वैविध्यपूर्ण दुख भी है। इस दुख पर काबू पाने के लिए मनुष्य तरह-तरह का उद्यम करता रहा है। लेकिन न तो दुख जीवन से पूरी तरह दूर होता है और न जीवन दुख से लड़ना

छोड़ता है। मनुष्य अपने एक हाथ से आसमान के चाँद को छू लेना चाहता है तो दूसरे हाथ से शांत जल में तिरते हुए चाँद को भी हासिल कर लेना चाहता है। दोनों ही तरह के चाँद को आदमी अपने तरीके से हासिल करता आया है। विडंबना यह कि चाँद तक की यात्रा करनेवाला मनुष्य कई बार अपने पड़ोसी के आँगन तक नहीं पहुँच पाता है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को खोल लेना वाला मनुष्य अपने पड़ोसियों के मन के साँकल को नहीं खोल पाता है। मनुष्य का संघर्ष और समन्वय सिर्फ प्रकृति से ही नहीं संस्कृति भी होता है। इस बात को समझना जरूरी है। संस्कृति प्रकृति के आँगन में आनंद का अवकाश बनाती है। प्रकृति में विविधता तो है, लेकिन विषमता नहीं। 'हाथी को मन चिंटी को कण' प्रकृति की विविधता में सापेक्षिक-समता का विन्यस्त-सूत्र है। संस्कृति विविधता को जीवन का अनिवार्य आधार मानते हुए विषमता और समता के प्रावृत्तिक संघर्ष की साक्षी बनती है। प्रकृति ने मनुष्य को उसकी जीवन-निर्वाही भौतिक जरूरतों की दृष्टि से सापेक्षतः समान बनाया है; चिंटी और हाथी की तरह की विविधता उस में नहीं है। विषमता और समता का संघर्ष सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्ष है। आलोचना के लिए इस संधर्ष को समझना और अपना पक्ष तय करना जरूरी होता है। जो साहित्य इस बात को नहीं समझता है, वह 'घुणाक्षर न्याय'[5] की तरह का होता है। संस्कृति के संघर्ष में आलोचना की भूमिका कर्ण, अर्जुन, संजय की न होकर कृष्ण की होती है। आलोचना मुख्यतः समता और विषमता के प्रावृत्तिक संघर्ष की अशांत मनोभूमि पर साहित्य को ले जाने का काम करती है। आलोचना साहित्य को सांस्कृतिक संधर्ष के मध्य[6] में ले जाती है, मध्य का अर्थ प्रावृत्तिक संघर्ष में उभय-निष्क्रियता नहीं है।

मनुष्य लड़ता आया है और जीतता आया है, 'यूँ ही हमेशा उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क/ न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई/ यूँ ही हमेशा खिलाये हें हमने आग में फूल/ न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई'[7]। सच यह भी है कि न तो कोई हार आखिरी होती है और न कोई जीत। इस हार-जीत से मनुष्य उल्लिसित होता है, थकता भी है। ठीक इसी जगह पर आलोचना की डोर पकड़ मनुष्य अपने उल्लास और अपनी थकान को साधता हुआ अपने मन में सांगीतिक सामंजस्य का संस्थापन कर लेता है। इसी सामंजस्य से समृद्ध मन मत्त होकर नाचता है और उसका प्रेम राग साहित्य के रूप में प्रकट होता है जिसको पूरी दुनिया दिन-रात[8] सुनती है, 'नाचु रे मन मत्त होय।/ प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।'[9] यह नाचता हुआ मत्त मन जब आत्मन्वेषण और आत्मविस्तार के कठिन रास्ते पर कदम बढ़ाता है तो उसका 'नाच' चुपके से आलोचना में बदल जाता है। जैसे वसंत चुपके से चुंबन में सिमट जाता है, प्रेम सिर्फ भावना न रहकर मौसम बन जाता है और अपनी धुरी पर नाचती हुई धरती हल्की-सी सिहरन के साथ चुपके से प्रेमपत्र में बदल जाती है। जीवन के इन सारे सूत्रों को जोड़कर साहित्य झीनी-झीनी चदरिया बुनता है और आलोचना उस

चादर को ज्यो-का-त्यों धर देने का विवेक बनकर जिंदगी में दाखिल होती है। इस जीवन में अमृत भी है और विष भी। जीवन में उलझाव भी है और सुलझाव भी है। जीवन में आँखिन देखी का महत्त्व है तो कागद लेखी का भी महत्त्व है। मन को एक करनेवाली प्रवृत्तियाँ हैं तो मन को बाँटनेवाली प्रवृत्तियाँ भी सक्रिय रहती हैं। बँटा हुआ मन जीवन को और इसीलिए साहित्य को भी मथता रहता है, साहित्य मन को एक करने की चिंता करता है। इस समस्या से जूझता रहता है कि 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।/ मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की देखी।/ मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।'[10] 'सुरझावनहारी' और 'उरझाई' रखनेवाली प्रवृत्तियों को पहचानने और बरतने की जरूरत से आलोचना ऊपजती है। सचमुच, 'वे लोग महान हैं जो जीते नहीं, लड़ते हैं/ जो पहली से आखिरी साँस का कुरुक्षेत्र/ लहूलहुलान होकर भी जूझते हुए पार करते हैं।'[11] आलोचना 'कुरुक्षेत्र' को पार करते हुए मनुष्य के पास साँस को सँजोने के लिए आराम और साहस के आशय का पाथेय लेकर उपस्थित होती है।

आलोचना की आँख और सपनों का समाज

मनुष्य के सारे उद्यम अपने रूप और तत्त्व में एक दूसरे से आवयविक स्तर पर जुड़े होते हैं। सुर भी सात ही हैं, रंगपटल के रंग और वर्णमालाओं के वर्ण भी सीमित ही हैं। विज्ञान के मौलिक सिद्धांत भी अनंत नहीं हैं। फिर संगीतों के इतने वैविध्य, रंगों का इतने वैभव, भाषाओं की इतनी अभिव्यक्तियों, विज्ञान के इतने चमत्कारों और पूरी सृष्टि के विपुला होने की बात सोचकर आश्चर्य होता है। इनके स्रोत कहाँ हैं! इनके स्रोत मनुष्य की संस्कृति में हैं। एक को दूसरे से मिलाने और अलग करने की यौगिक एवं रासायनिक प्रक्रिया को जानने एवं अपनाने के कारण ही मनुष्य ज्ञात सृष्टि के अन्य प्राणियों से अलग एवं अतुलनीय हो सका है; 'मनुष्य' हो सका है। मिलाने और अलग करने की निरंतर गतिमान प्रक्रिया ही मनुष्य की संस्कृति है। संस्कृति मनुष्य के व्यवहार का ढंग है। मनुष्य का यह व्यवहार सिर्फ कलाओं और समाज-विद्याओं की दुनिया से उसके बरताव तक सीमित नहीं होता है, बल्कि उसके चरित्र की अंतर्वस्तु से जुड़ा हुआ होता है। मनुष्य के चरित्र की अंतर्वस्तु, अर्थात संस्कृति उसकी वैज्ञानिक मेधा के विकास का आधार रचती है। वैज्ञानिक मेधा मनुष्य की संस्कृति को नये-नये आयामों और प्रज्ञाओं से समृद्ध करती है। इन प्रक्रियाओं के सामाजिक प्रतिफलनों के समग्र का सारांश विकास के रूपों एवं तत्त्वों में प्रकट होता है। जितनी तेजी से विकास होता है, उतनी ही तेजी से दुनिया रोज पुरानी पड़ जाती है। 'यहां रोज कुछ बन रहा है/ रोज कुछ घट रहा है/ यहां स्मृति का भरोसा नहीं/ एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया'[12] । साथ ही 'यही वो समय है जब/ कट चुकी है खेत से फसल/ और नया बोने का दिन नहीं/..। शेष हो चुका है पुराना और नया आने को शेष है।'[13] आलोचना संस्कृति के सक्रिय विन्यास

में कृति और कृतिकार के अव्याघाती सपनों के संस्थापन एवं सहयोजन के दायित्व को निभाने के लिए तत्पर रहती है।

मनुष्य को नींद भी चाहिए और सपने भी चाहिए। परंपरा में नींद भी होती है और सपने भी होते हैं। आलोचना जीवन से नींद और सपनों के समानुपातिक संबंध की तलाश के लिए परंपरा से बरताव की भूमिका रचती है। नींद और सपना के साथ किया जानेवाला अंतर्मिलानी बरताव आलोचना है। प्रतिगामी प्रवृत्ति परंपरा की नींद को ढोती है और प्रगतिकामी प्रवृत्ति सपनों का संवहन करती है। सपना और नींद को अलग-अलग समझना आलोचना का दायित्व होता है। जीवन को नींद के भार से मुक्त करना और नींद को सपनों के सितारों से सजाना आलोचना का काम है। 'आलोचना, साहित्य की आलोचना का प्रमुख काम क्या है? कुल मिलाकर यह कि साहित्य के अर्थनिरूपण और निहितार्थ की संवेद्यता को ऐतिहासिक-सामाजिक अनुभवों की शृंखला से जोड़ते हुए परंपरा के प्रवाह के सातत्य में उसके मूल्य एवं स्थान निर्धारण के साथ-साथ नये के जुड़ने से पुराने की स्थिति में होनेवाले परिवर्त्तन को उद्घाटित करना। नये के जुड़ने से पुराने की स्थिति में होनेवाले परिवर्त्तन-परिस्थापन या कई बार उसके विसर्जन को ही 'परंपरा में पलीता लगाकर उड़ाने' की बात कही जाती है। परंपरा में पलीता लगाने का मकसद जीवंत परंपरा को नष्ट या भ्रष्ट करने का नहीं बल्कि जीवंत परंपरा को किसी भी प्रकार की कीर्तनिया चर्या से बाहर निकालते हुए जीवन-व्यवहार में उसकी कर्मकांड-मुक्त उपादेयता को बनाये रखने का होता है। इसलिए 'परंपरा में पलीता लगाना' कोई आसान काम नहीं है। सिर्फ टेक्स्ट के आधार पर यह काम नहीं हो सकता है। उसके लिए कॉनटेक्स्ट की तलाश करनी ही पड़ती है। इसी तलाश में 'जो है उससे बेहतर' को हासिल करने के लिए आलोचक को अपने समय तक की मानवीय उपलब्धियों के सारे प्रयासों और आशयों से जूझना एवं जुड़ना पड़ता है। एक ही समाज और समय में कई हित-समूह एक साथ सक्रिय होते हैं। मानवीय उपलब्धियों के सारे प्रयास और आशय अनिवार्यत: परस्पर अविरोधी और प्रतिषेधी ही नहीं होते हैं इसलिए ये हित-समूह भी अनिवार्यत: परस्पर अविरोधी और प्रतिषेधी ही नहीं होते हैं। ये सारे प्रयास और आशय मिलकर ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट और कॉनटेक्स्ट बनाते हैं। इन प्रयासों और आशयों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाने के कारण इनके निरसन के वर्चस्ववादी रवैये के चलते या अन्य प्रयोजनों से इन में से कई के मिथ्या अभिज्ञान से कई समानांतर कॉनटेक्स्ट एक साथ प्रस्तावित हो जाते हैं। इन में से कुछ कॉनटेक्स्ट छद्म भी होते हैं। छद्मों को तार-तार करनेवाली आलोचना दृष्टि समर्थ आलोचकों के पास होती है। कुछ समानांतर कॉनटेक्स्ट, सामाजिक हित-समूहों के वैभिन्न्य के संदर्भों में समान रूप से वैध होते हैं। विभिन्न कॉनटेक्स्टों की इस समान वैधता से जीवंत सामाजिक जटिलताएँ विनिर्मित्त होती है। जब तक विभिन्न सामाजिक हित-समूहों के हित आपस में समेकित और समन्वित होकर एक हित-समूह नहीं बन जाते हैं तब तक इन सामाजिक जटिलताओं की जीवंतता बची रहती है। सार्थक आलोचकों में वैध समानांतर

कॉनटेक्सटों के प्रति पूजा का प्रमाद नहीं होता है परंतु आदर का औदार्य अवश्य होता है। सामाजिक जटिलताओं की जीवंतता के कारण इन विभिन्न कॉनटेक्स्टों के प्रति आदर भाव बनाये रखने के सांस्कृतिक-धैर्य के निर्माण के सातत्य को बनाये रखने की प्रक्रिया की पहचान करना भी साहित्य और संस्कृति के आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण काम होता है। यह काम प्रक्षिप्त स्थूल समाजशास्त्रीयता से मुक्त हुए बिना मुमकिन नहीं होता है। इन विभिन्न कॉनटेक्स्टों के प्रति आदर भाव से ही भारतीय समाज और संस्कृति का ऐकांतिक वैशिष्ट्य रचनेवाली बहुलात्मकता के प्रति समभाव बचा रह पाता है। समाज का प्रभु-वर्ग सिर्फ अपने कॉनटेक्स्ट को ही महत्त्वपूर्ण, अद्वितीय और वैध मानता है और परंपरा के संदर्भ में अद्वैतवादी आचरण करता है। सत्य को 'एक' और 'अविरोधी' बताता है। यह 'सत्य' प्रभु-वर्ग का अपना ही सत्य होता है, इसकी अविरोधिता को साबित करने और साबूत रखने के लिए प्रभु-वर्ग विभिन्न प्रकार से प्रयत्नशील रहता है। एक विवेकशील आलोचक समाज के प्रभु-वर्ग के कॉनटेक्स्ट के साथ 'क्वचित अन्योपि' कॉनटेक्स्टों की बहुवचनात्मक वैधता को भी समान रूप से स्वीकार करता है। कॉनटेक्स्ट की इसी बहुवचनात्मक वैधता की स्वीकृति परंपरा की बहुवचनात्मकता के होने को स्वीकार्य बनाती है। इसीलिए नामवर सिंह न सिर्फ परंपरा का प्रयोग बहुवचन में करते हैं, बल्कि इन परंपराओं के वैध होने की पहचान और उनको प्रतिष्ठित करने की भी गंभीर प्रचेष्टा करते हैं। ग्रेटर-कॉनटेक्स्ट, कॉनटेक्स्ट और सब-कॉनटेक्स्ट की बात यदि स्वीकार्य हो तो इन पंरपराओं के प्रवाह के सातत्य में सिर्फ व्याघाती संबंध न होकर समानांतर और सहवर्तिता का संबंध भी स्वीकार्य होता है।'[14]

अपने दायित्व-पालन के लिए आलोचना को सहयोजी और गतिशील होना पड़ता है। यह विज्ञान और तकनीक के नवोन्मेष का समय है। इसीलिए यह समय सांस्कृतिक प्रक्रिया के भी नवोन्मेष का है। जाहिर है कि 'साहित्य आज अनेक प्रकार के पाठकों, श्रोताओं को संबोधित करता है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिए काम करता है। ऐसी स्थिति में इस अनेकधा विभक्त साहित्य के लिए कहना पड़ जाता है कि आज इसकी समीक्षा संभव है? हम मानते हैं कि संभव तो है, पर जिस नवीन समीक्षाशास्त्र की इसके लिए आवश्यकता है उसे अंशत: समाजशास्त्र की भी कृति होना पड़ेगा। यदि ऐसा न होगा तो हमें समसामयिक साहित्य जैसा है और जैसा होना चाहिए–– दोनों के अधिकांश भाग को छोड़ देना होगा। इसीलिए साहित्यशास्त्र एवं समाज-विद्याओं के मध्य एक संयोजन एवं समन्वय की स्थिति विचारणीय है।'[15] आलोचना के सामने चुनौती 'समाजशास्त्र की कृति' होने की भी है और साथ ही 'समाज की कृति' होने की भी है। यह चुनौती तब और कठिन हो जाती है जब 'शास्त्र' का ज्ञान और 'समाज' का संवेदन एक दूसरे से भिड़ जाते हैं। आधुनिकता और जनतंत्र आलोचना की आँख है। आलोचना की आँख में आत्म-विरोध और अंतर्विरोध मुक्त आत्म-

संगत जीवन के सपनों का सदावास होता है । 'धरती को स्वप्न की तरह देखने वाली आँख/ और लोकगीत की तरह गाने वाली आवाज से ही/ सुबह होती है/ और परिंदे पहली उड़ान भरते हैं।'[16] समय के साथ-साथ परंपरा के साथ जातीय सलूक में भी बदलाव होता है। इस सलूक से परंपरा की छवि में बदलाव आता चलता है। महत्त्वपूर्ण कृतियों के अर्थ में भी बदलाव होता चलता है। अनुभव में नये के जुड़ाव के साथ सार्वजनिक चित्त[17] में भी बदलाव आता है। यह ठीक है कि जनता की चित्तवृत्ति में बदलाव का असर साहित्य पर पड़ता है। जनता की चित्तवृत्ति में बदलाव एक निरंतर गतिमान प्रक्रिया है। इस गतिमानता में साहित्य के अर्थ में भी बदलाव आता रहता है। हम जितनी बार गोदान को पढ़ते हैं, उतनी बार उसे फिर से रचते हैं। 'गोदान' की नींद में नहीं, 'गोदान' के सपना में हम बार-बार अंतर्यात्रा करते हैं। इसलिए, 'पिता कहते हैं मैं अपनी तस्वीर जैसा नहीं रहा/ लेकिन मैंने जो नये कमरे जोड़े हैं/ इस पुराने मकान में उन्हें तुम ले लो/ मेरी अच्छाई ले लो उन बुराइयों से जूझने के लिए/ जो तुम्हें रास्ते में मिलेंगी/ मेरी नींद मत लो मेरे सपने लो'[18]। नींद ओर सपनों को अलगाने का संधर्ष इतना आसान नहीं है। इस कठिन संघर्ष में आलोचना चित्त को सँजोती और प्रसन्न रखती है।

आलोचनात्मक विवेक के अभाव में मनुष्य का जीवन एक भी कदम आगे नहीं बढ़ सकता है। इसलिए निंदा, जो कि इसका निकृष्टतम अभिप्रेत होता है, के अर्थ में भी समझदार लोग इसके महत्त्व को जानते रहे हैं। तभी तो सलाह दी थी कि निंदक को नजदीक रखिये, आँगन में कुटी बनाकर। क्योंकि यह निंदक बिना साबुन-पानी के ही स्वभाव को निर्मल करता है। साबुन-पानी न लगे, लेकिन जिसका 'मल' निकाला जाता है उसे कुछ-न-कुछ 'रगड़' भी तो झेलनी ही पड़ती है। अब जिसे रगड़ झेलनी पड़े वह क्या बताये कि आलोचना अच्छी चीज है! आलोचना सत्य के संधान का रास्ता बनाती है। समझा जा सकता है कि न तो सत्य ही सीमित और एकार्थी होता है और न उसके संधान का रास्ता ही एक दैशिक और एक आयमी होता है। सत्य के प्रमाण को हासिल करने का एक तरीका 'आप्त-वचन' है। 'आप्त-वचन' स्वत:-प्रमाण होते हैं। स्वत:-प्रमाण को बस मान लेना पड़ता है! स्वत:-प्रमाण के अंध-बिंदुओं को चुनौती नहीं दी जाती है! चुनौती देने से ही वह खंडित हो जाता है। 'आप्त-वचन' का आधार शास्त्र होता है। शास्त्र और सत्ता का संबंध बहुत गहन होता है। सत्य के प्रमाण को हासिल करने का एक अन्य तरीका है। यह तरीका 'आप्त-वचन' को चुनौती देते हुए उसे परीक्षित और जरूरी हुआ तो खंडित भी करता है। 'आप्त-वचन' को चुनौती देना शास्त्र को और इसी ब्याज से सत्ता को चुनौती देना होता है। यह तरीका निरीक्षण-परीक्षण की विधि अपनाता है। कहना न होगा

कि 'निरीक्षण-परीक्षण' में 'ईक्षण' और आलोचना में 'लुच्' के होने से, इनमें देखने और दृष्टि की प्रक्रिया शामिल है। स्वभावत: निरीक्षण-परीक्षण आलोचना की प्रविधि है। निरीक्षण-परीक्षण की प्रविधि अपनाकर आलोचना शास्त्र और सत्ता, जो वस्तुत: एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, को चुनौती देती है। शास्त्र और सत्ता को चुनौती देना कोई आसान काम नहीं होता है। शास्त्र और सत्ता ने आलोचना को बदनाम करने का प्रयास किया है; आलोचना की निर्मिति को निषेधात्मक अर्थ-छवि से जोड़कर जीवन से खदेड़ने का विफल प्रयास किया है। शास्त्र और सत्ता अपने अंध-बिंदुओं की अंधता पर पर्दा डालने और अपनी मारक छिद्रताओं को छिपाने का भरपूर प्रयास करते हैं। शास्त्र और सत्ता 'आलोचना' के काम को 'छिद्रान्वेषण' बताने का प्रयास करते हैं। शास्त्र और सत्ता ढीठ और ठस होते हैं। वे न तो छिद्र के होने से इनकार करते हैं और न उसे दूर करने का कोई इरादा रखते हैं।

साहित्य का संबंध सिर्फ सत्य से नहीं होता है, बल्कि समग्र जीवन से होता है। जीवन में सिर्फ सत्य ही नहीं होता है, झूठ भी होता है। न तो सारे सत्य ही हितकर होते हैं और न सारे झूठ ही अहितकर होते हैं। सत्ता का शास्त्र कहता है सपना झूठ होता है। साहित्य कहता है 'सपनों का मर जाना खतरनाक होता है'[19]। समाज का संवेदन कहता है सपना सच होता है, अगर उसमें संघर्ष का साहस भी हो। इसलिए, साहित्य का काम सिर्फ सत्य से नहीं चलता है। साहित्य का संबंध जितना गहन सत्य से होता है उतना ही गहन संबंध सपना से भी होता है; सपना में तो सपना ही सत्य होता है। साहित्य के सत्य में सपनों का संपुट होता है। साहित्य के सत्य में संपुट सपने को बार-बार उद्घाटित करना साहित्य की आलोचना का दायित्व है। सपनों का संबंध दमित इच्छाओं से होता है। जीवन में 'काम' का महत्त्व कम नहीं है, लेकिन सारी इच्छाएँ 'काम' से ही संबंधित नहीं होती हैं। दमन सिर्फ कामेच्छाओं का ही नहीं होता है। बेहतर सामाजिक-नागरिक जीवन हासिल करने की इच्छाओं का भी दमन होता है। साहित्य सत्य और सपने के सहमेल के एवं सामंजस्य के लिए कल्पनाओं का सहारा लेता है। 'कल्पना दो प्रकार की होती है— विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक।'[20] विधायक और ग्राहक कल्पना अलग-अलग नहीं एक साथ सक्रिय रहती हैं। आलोचना का काम शुरू तो होता है ग्राहक कल्पना से लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में विधायक कप्लना भी सदा सचेत रहती है। समय और समाज में स्थिति के आधार पर ही नहीं खुद आलोचक के अपने व्यक्तिगत अवस्थान के आधार पर भी ग्राहक और विधायक कल्पना की निर्मिति में नये-नये आयाम प्रकट होते रहते हैं। विधायक कल्पना साहित्य सृजन के साथ ही स्थिर हो जाती है। ग्राहक कल्पना सदैव गतिशील रहती है। आलोचना स्थिर विधायक कल्पना और गतिशील ग्राहक कल्पना को समन्वित और समेकित करने के लिए सतत संघर्ष करती है। इसी संघर्ष के क्रम में रचना का नया-नया पाठ आलोचना ढूढ़ लाती है। आलोचना इस नये पाठ को, समाज विकास के एक

संस्तर और एक चरण से दूसरे संस्तर और चरण तक संवहित करती हुई, सार्वजनिक-चित्त में टिकाये रखती है। सही आलोचना साहित्य की सहपाठी, अंतर्पाठी और सहेली होती है। आलोचना साहित्य के संघर्ष को भी सामने लाती है और उसके आस्वाद को भी सामने लाती है। आलोचना संघर्ष और आस्वाद को जोड़ती है।

आलोचना की संस्कृति और संस्कृति का जनतंत्र

आलोचना और जनतंत्र की चेतना का विकास साथ-साथ हुआ है। जहाँ आलोचना पहले विकसित हुई जनतंत्र की चेतना भी पहले वहीं विकसित हुई। अगर भारतीय परिप्रेक्ष्य को देखा जाये तो बाहरी उपनिवेश और आंतरिक उपनिवेश दोनों से मुक्ति की चाह में ही संप्रभुत्व-संपन्न-राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रीय-जनतंत्र की आकांक्षा का विकास हुआ। आज अगर एक साथ राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता और राष्ट्रीय-जनतंत्र के चरित्र को बाहरी और भीतरी दोनों ही ताकतों से खतरा है तो इसलिए कि ये दोनों ताकतें मिलकर यहाँ की विभिन्न सामाजिकताओं के बीच की ऊपरी दरारों के आभासों को विस्तारित एवं प्रभावी बनाकर राष्ट्रीय-जनतंत्र की विभिन्न सामाजिकताओं को नई गुलामी में जकड़ना चाहते हैं। इस काम में उनका सब से बड़ा हथियार होता है व्यापक पैमाने पर लोगों के बीच अंधविश्वास का प्रसार। इसके लिए आलोचनात्मक-बुद्धि का सामाजिक अनादर और अनालोचनात्मक मनोवृत्ति का सांस्कृतिक समादर सत्ता और शास्त्र, दोनों के लिए परम आवश्यक ही नहीं, परम अनिवार्य भी होता है। बैसाखियाँ इतनी मोहक, शोभनीय और उपयोगी कि लोग टाँग कटवाने के लिए तैयार! चश्मा इतना सुंदर कि लोग अंधे होने की झिझक से कोसों दूर! विज्ञापन ऐसे कि ज्ञान का आधार बन जाएँ! पट्टियाँ इतनी मोहक और सुहानी कि अधिकतर लोग अपनी आँख पर बँधवाने की सक्रिय ललक पालने लगते हैं! अनुरक्ति ऐसी कि सिर्फ गांधारी ही नहीं, पूरा कुनबा ही आँख पर पट्टी बाँधने को तैयार! आलोचना सावधान करती है। आलोचनात्मक-बुद्धि अपने सामाजिक अनादर से लड़ती हुई आलोचना के सांस्कृतिक समादर को हासिल करने के लिए समाज के सम्मुख बार-बार उपस्थित होती है।

साहित्य और आलोचना के गहरे संबंधों के आधार पर कुछ लोग यह मानते हैं कि आलोचना साहित्य की अनुवर्त्ती है। कठ-तर्क यह कि आलोचना के बिना साहित्य तो हो सकता है, लेकिन साहित्य के अभाव में आलोचना नहीं हो सकती है। ऐसा कहनेवालों का मूल किंतु प्रच्छन्न इरादा क्या होता है! इस पर विचार किया जाना चाहिए। ऐसे लोग आलोचना को साहित्य तक सीमित कर उसको अपंग कर देना चाहते हैं। आलोचना को मनुष्य की संस्कृति से जोड़े जाने पर इन्हें खास एतराज होता है। ऐसे लोग, साहित्य को स्वायत्त बताते हुए उसे समाज के अन्य उद्यमों से काटने की कोशिश करते हैं। ऐसे लोग, समाज को संवेदना और विचार दोनों से विच्छिन्न कर देते हैं। ऐसे लोग, 'आलोचना की संस्कृति' और 'संस्कृति की

आलोचना' दोनों को विकलांग बनाते हुए 'विचाधारा के अंत' की घोषणा करनेवाली विचारधारा को बल पहुँचाते हैं। ऐसे लोग, यह मानने को तैयार नहीं होते हैं कि आलोचना सहित मनुष्य के सारे सद-उद्यमों का परम लक्ष्य जीवन को मनोरम, समृद्ध और समता के भाव-बोध से निबद्ध करने के दायित्व से सहज संबद्ध होता है, स्वायत्त नहीं। थोड़ी-बहुत ही सही लेकिन इस नकली ओर छलिया 'स्वायत्तता' को आभासी सामाजिक-वैधता कहाँ से मिलने लगती है, इस पर विचार कर लेना जरूरी है। असल बात यह है कि मनुष्य के मन में स्वतंत्रता के प्रति जन्मजात आग्रह होता है। स्वायत्तता में इस स्वतंत्रता का अंतर्भाव निहित रहता है। स्वतंत्रता की आंतरिक चाह मनुष्य को कई बार परतंत्रता के गह्वर में डाल देती है। स्वायत्तता की इस परियोजना का पराक्रम मनुष्य के समताकांक्षी सपने में छिपा होता है। इसलिए आलोचना को स्वायत्तता के चाल-चरित को समझना होता है।

जीवन स्वतंत्र नहीं हो और साहित्य स्वायत्त हो, क्या यह संभव है! अनुभव तो यही बताता है कि जिस समाज-व्यवस्था में जीवन जितना स्वायत्त होता है, साहित्य भी उतना ही स्वायत्त होता है। जीवन की स्वायत्तता का यह प्रसंग राजनीति और संस्कृति के अंतर्संबंधित सरोकारों के भीतरी प्रसंगों से समझा जा सकता है। यदि भारतीय अनुभवों की बात करें तो अंग्रेजीराज में गुलामी के दिनों को याद करना होगा। यह बड़े अचरज की बात है कि बाहरी और राजनीतिक गुलामी के दिनों में अप्रतिबद्ध आंतरिक और सांस्कृतिक स्वायत्तता के बदले जीवन के प्रति समतामूलक मानवतावादी आकांक्षाओं का प्रतिबद्ध आग्रह अधिक सक्रिय था। क्या विडंबना है कि गुलाम भारत के पढ़े-लिखे और समझदार माने जानेवाले अधिकतर लोग मानसिक रूप से, अपेक्षतया, अधिक आजाद थे, जबकि आजाद भारत के पढ़े-लिखे और समझदार माने जानेवाले अधिकतर लोग मानसिक रूप से अधिक गुलाम प्रतीत होते हैं। इस विडंबना को समझने की कोशिश करें तो इसका प्रमुख कारण आज पढ़े-लिखे और समझदार माने जानेवाले लोगों के मानस में आलोचना के लिए निरंतर सिकुड़ते हुए स्थान में मिल जायेगा। अब यहाँ एक प्रखर और दु:साध्य सवाल हमारे सामने यह खड़ा हो जाता है कि क्या हम अंग्रेजीराज के दिनों की समाज-व्यवस्था में सांस्कृतिक रूप से अधिक आजाद थे? नहीं ऐसा नहीं है। असल बात यह है कि आजादी को समझने तथा बरतने के आग्रह और सामाजिक साहस में इन दिनों भारी क्षरण हुआ है। इस क्षरण के कारणों को खोज निकालने की जरूरत है। राज और समाज के नये द्वंद्व में हमारा पल्ला राज की ओर अधिक झुकता गया है, जबकि राज अपने को बाजार के हाथों बेचने के लिए तत्पर है। आभासी स्वायत्तता के आग्रह के कारण नैसर्गिक सामाजिक अंतर्निर्भता में भयानक क्षरण हुआ है। भूमंडलीकरण के दौर में इस क्षरण का अपना खास अर्थ है। आज तो, दूसरे के हिस्से की आजादी के रकबे को अपने हिस्से में दबाने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस बढ़ाव से जीने की एक-से-बढ़कर-एक कठिन शर्तें निकलने लगीं हैं, 'अतिक्रमण के समाज में जीवति रहने के लिए/ सबसे पहले दूसरे के हिस्से की जगह चाहिए/ फिर दूसरे के हिस्से की स्वतंत्रता// किसी नयी वस्तु को ले

सकने की सामर्थ्य बताता है/ कितना दबाया है दूसरे के जीवन का रकबा/ और पृष्ठभूमि में से झाँकती हैं कितनी वस्तुएँ/ इन बातों से ही फिर बनने लगती है/ दुनिया में किसी की आदरणीय पहचान।'[21] आज आजादी के अर्थ को बदलने की खतरनाक कोशिश हो रही है। आजादी के वास्तविक अर्थ को बाराबर उजागर करते रहना आलोचना का दायित्व है।

संस्कृति के आँगन में 'स्वायत्तता' के जादू के खेल का अपना इतिहास है। हित के नाम पर हत्या का सिलसिला नया नहीं है। अंग्रेज भी हमें सुसंस्कृत बना रहे थे, आजादी का अर्थ सिखा रहे थे! अमेरीका को भी अफगानिस्तान और इराक में ही नहीं पूरी दुनिया में आजादी सुनिश्चित करने की अपनी प्रतिबद्धता दुहराने में हलकान होते देखा जा रहा है। अमेरीका उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण का 'तिरगुन फँस कर में लिये' पूरी दुनिया के हित के लिए कमर कसकर निकल पड़ा है! 'स्वायत्तता' की जरूरत और सार्थकता का संकेत नागार्जुन की कविता से मिल सकता है, 'सलिल को सुधा बनाएँ तटबंध/ धरा को मुदित करें नियंत्रित नदियाँ/ तो फिर मैं ही रहूँ निर्बंध!/ मैं ही रहूँ अनियंत्रित!/ यह कैसे होगा?/ यह क्योंकर होगा?// भौतिक भोगमात्र सुलभ हों भूरि-भूरि,/ विवेक हो कुंठित!/ तन हो कनकाभ, मन हो तिमिरावृत्त!/ कमलपत्री नेत्र हों बाहर-बाहर,/ भीतर की आँखें निपट-निमीलित!/ यह कैसे होगा?/ यह क्योंकर होगा?'[22] 'स्वायत्तत्ता' को समझने के लिए 'कमलपत्री नेत्र' की नहीं 'भीतर की आँख' की जरूरत है। सभ्यता के भीतर की यही आँख आलोचना है। आलोचना उच्छृँखलता और स्वतंत्रता के भेद को खोलती है। 'उच्छृँखलता' और 'स्वाधीनता' ये दो पृथक वस्तुएँ हैं। दुर्बल हृदय के लोग शंका करते हैं कि दिमागी आजादी मानसिक उच्छृँखलता का ही रूपांतर हो सकती है। ऐसे मनुष्य यह सोचते तक नहीं कि स्वतंत्रता की भावना एकांगी नहीं होनी चाहिए। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक अथवा अन्य कोई भी स्वाधीनता जिस प्रकार आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार हृदय और बुद्धि की स्वाधीनता आवश्यक है।'[23] क्या बिडंबना है कि जिस मानस में तुलसीदास ने नारी के दुख को उनकी परतंत्रता से जोड़ा उसी मानस में तुलसीदास ने नारी के बिगड़ने को उनकी स्वतंत्रता से जोड़ दिया!

समाज और आलोचना

जीवन का विन्यास अपने रचाव में अद्‌भुत है। जीवन के इस रचाव को देखने से विज्ञान का कला पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है और कला का विज्ञान-पक्ष भी साफ-साफ नजर आता है। साहित्य और आलोचना दोनों का संबंध जीवन से है। साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। आलोचना जीवन की इस कलात्मक अभिव्यक्ति के वैज्ञानिक आधार का रचाव है। जीवन में आलोचना के लिए सम्मान न बचे तो साहित्य में कहाँ से बचेगा!

आलोचना की सामाजिकता की किसी भी तलाश में हमें बार-बार जीवन के खुले आँगन में जाना ही होगा। वह कौन-सा विचार है जो 'बुद्ध की मुस्कान' पर परमाणु विस्फोट करता हुआ अपने चेहरे पर बुद्ध की मुस्कान चिपकाये, बुद्ध के शरण में जाने का स्वाँग रचाता है, खुले आम! पूछना ही होगा कि आज जीवन को जारी रखने के लिए आवश्यक फसल उगानेवाले दुखसह होरी के वंशधर फसलों के दुश्मनों के नाश के लिए इजाद किये गये रसायन से अपना प्राण नाश करने पर क्यों विवश हो रहे हैं, क्यों भून दिया जा रहा है उन्हें गोलियों से? क्यों धनिया का आँचल आज पहले से अधिक तार-तार है? पथ के पत्थर को तोड़ती आजाद देश की सृजन चेतना आज भी यही क्यों कह रही है कि देखकर भी किसी ने मुझे देखा नहीं उस नजर से!

न सिर्फ आलोचना की सामाजिकता को नये सिरे से समझने की जरूरत है, बल्कि सामाजिकता की आलोचना को भी नये सिरे से समझना जरूरी है। क्योंकि, आज के परिप्रेक्ष्य में आलोचना को जीवन से खदेड़ने की कोशिश नये सिरे से की जा रही है। आज जीवन में अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाया जा रहा है। हर किसी को अपने-अपने 'सद्‌गुणों' के बखान और विज्ञापन की पूरी छूट है। बात इतनी ही नहीं है, अपने और दूसरे के 'दुर्गुणों' को सद्‌गुणों' के रूप में प्रचारित के बारे में समझदारी भरी चुप्पी के सांस्कृतिक मर्म के प्रति आदर के महत्त्व को समझा और समझाया जा रहा है। इनके समर्थक कह सकते हैं कि आज के इस अनालोचन में 'गुणग्राहकता' बढ़ी ! 'गुन न हिरानो हैं, गुन ग्राहक हिरानो हैं' एक 'बीती हुई बात' है! अब न तो 'गुन' की कोई कमी है और न 'गुनग्राहकों' की ही कमी है! कमी है तो कंचन की, हिरण्य की। उस 'कंचन' की जिसके आश्रय में ही सारे 'गुण' रहते हैं। कमी है तो 'हिरण्य' की, जिसके गर्भ में सत्य का सदावास सांस्कृतिक अध्यायों में बताया जाता रहा है। इसलिए अनालोचन के महत्त्व को बढ़ाये जाने के मनोविज्ञान को समझने के लिए असमान अर्थ-विश्व के समर्थ अर्थ-प्रभुओं की विश्वाकांक्षा के आर्थिक परिप्रेक्ष्य को समझना होगा। इसके आर्थिक प्रयोजनों से राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक यथा-स्थितिवाद के संपोषण के लिए एक मुहावरा ही बनाने की कोशिश हो रही है कि जो जैसा है वह वैसा और केवल वैसा ही हो सकता है। इसे पूरी तरह स्वीकार किया जाये या फिर पूरी तरह से अस्वीकार किया जाये। इसमें किसी प्रकार के परिवर्त्तन या 'मीन-मेष' अन्वेषण का अधिकार 'बाहरी' तत्त्व को नहीं है। 'मीन-मेष' अन्वेषण करनेवाले को 'बाहरी' तत्त्व बताया जा रहा है!
बाजार आज का विश्व है। इस विश्व में जो बिक सके वही महत्त्वपूर्ण है। आज नये सिरे से आलोचनात्मक विवेक को समाप्त करने की कोशिश के तहत आलोचनात्क सोच को 'दुष्टता' की परिधि में धकेलने की प्रचेष्टा की जा रही है। संस्कृति के परिगठन के काल से ही आलोचन और अनालोचन का द्वंद्व चलता रहा है। धर्म और विज्ञान के विकास के टकरावों के

मूल में आलोचन और अनालोचन का यह द्वंद्व साफ-साफ समझ में आ सकता है। इस द्वंद्व में धर्म, जो अधिक-से-अधिक उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाने में उपयोगी जिज्ञासाओं को कुछ हद तक स्वीकार करता है, लेकिन किसी भी स्तर पर अपनी वास्तविक आलोचना को बर्दाश्त नहीं करता है, विश्वास इनका प्रमुख सांस्कृतिक मित्र है और संदेह इनका प्रमुख सांस्कृतिक शत्रु। धर्म के साथ सत्ता की दुरभिसंधियों के कारणों को पहचाना जा सकता है। आलोचना के प्रति इस रवैया के पुराने सिरे और नये सिरे में लक्ष्य की समानता निश्चित रूप से है। और यह समानता है मनुष्य की बड़ी आबादी को शोषण की जकड़न में डाले रखना। इस लक्ष्य की समानता को पहचानना और पण्य एवं पुण्य के अंतस्संबंधों को उद्घाटित करना आलोचना की संस्कृति और सामाजिकता पर बात करने के लिए जरूरी है।

सामाजिक सरोकार से जुड़े जन-लेखन के महत्त्व को नये सिरे से समझना आलोचना की सामाजिकता की प्राथमिक जरूरत है। सामाजिक सरोकार की तलाश में इस यांत्रिकता से आज मुक्त होने की जरूरत है। जरूरत हर प्रकार की यांत्रिकता के खतरे को पहचानने और उस के साथ रचनात्मक संघर्ष को चलाये रखकर उस के सर्वात्मक दुष्प्रभाव से जीवन को बचाने का है। नामवर सिंह के शब्दों में 'जन-लेखकों का निर्माण,निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है।'[24] आज के लेखक को यांत्रिकता की चपेट से जीवन को बचाने के सांस्कृतिक उपक्रम के लिए इस कठोर अग्निदीक्षा के लिए तैयार होना ही होगा। 'आज के लेखक' में निश्चित तौर पर आलोचक भी शामिल हैं। शामिल ही नहीं हैं, बल्कि आलोचकों का दायित्व दुहरा है। पिछली सदी गवाह रही है कि यांत्रिकता के खतरों का जितना दुष्प्रभाव रचना पर पड़ा उस से कहीं अधिक आलोचना पर पड़ा है। यह भी कि रचना पर यांत्रिकता का प्रभाव मुख्य रूप से आलोचना के मार्फत ही पड़ता है। इसलिए, आलोचना को यांत्रिकता के खतरों के दुष्प्रभाव से न सिर्फ अपने को बचाने के लिए संघर्ष करना है बल्कि रचना को यांत्रिकता के खतरों की चपेट में आने से बचाने के लिए भी सचेष्ट और स-तर्क होकर संघर्षशील होना है। रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही स्तरों पर आलोचना के सामाजिक सरोकार के पुनर्अन्वेषण से ही यह काम सधेगा।

आलोचनात्मक विवेक की जड़ से ही प्राणरस पाकर जीवन-विवेक, कवित्त-विवेक, सामाजिक-विवेक जैसे अनेक फूल खिलते हैं। इन फूलों की नाना पंखुड़ियों के खिलने से ही जीवन की बगिया में बहार आती है। मुक्तिबोध बताते हैं, 'काव्य में केवल अवचेतन या अचेतन मन ही प्रकट नहीं होता है; कवि के अनजाने, अचेतन रूप से उस कवि का चरित्र भी प्रकट होता जाता है। कवि का जो कथ्य है, वह भिन्न है। अपने चरित्र की अभिव्यक्ति कवि का कथ्य नहीं है। फिर भी काव्य में कलाकार का चरित्र प्रकट होता रहता है। दूसरे शब्दों में, कवि अपने हृदय में संचित तत्त्वों का जो चित्रण करता है, उन तत्त्वों के अतिरिक्त वह अन्य

अनेक बातें सूचित कर जाता है, कह जाता है, चित्रित कर जाता है। हाँ वैसा करना उसका उद्देश्य बिल्कुल नहीं है। वह तो केवल अपना कथ्य प्रस्तुत कर रहा है। कथ्य शब्दबद्ध करना ही उसका उद्देश्य है। किंतु कथ्य चित्रित करने के साथ-साथ कवि अपने अनजाने में बहुत कुछ और कह जाता है। संक्षेप में, कवि कथ्य के माध्यम से अपने अनजाने में अपना चरित्र प्रस्तुत कर जाता है। चरित्र अंतर और बाह्य से सामंजस्य की स्थापना के, द्विविध और द्वंद्वात्मक किंतु एकीभूत प्रयत्नों की प्रक्रिया में, उस प्रक्रिया के दौरान में, वह बनता और बढ़ता है, निर्मित और विकसित होता है। सहस्त्रों वर्षों से चली आ रही वर्गविभाजित सभ्यता के अंतर्गत, व्यक्ति-चरित्र अपने वर्ग के तत्त्वों को आत्मसात करता है, बिल्कुल बाल्यकाल से ही। ये वर्ग तत्त्व हैं–– जीवन-यापन-पद्धति और आदर्श दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य तथा भावों की वह परंपरा, जो समाज के भीतर अपने वर्ग में उपस्थित मानव-संबंधों तथा मानव-स्थिति के बारे में होती है, तथा वर्गाभ्यांतर मानव-स्थितियों और मानव-संबंधों में कुछ फेरफार होते ही, जो (भाव-परंपरा) बदलने लगती है।'[25] इस 'जीवन-यापन-पद्धति' पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उत्पादन , वितरण और समाज विकास के विभिन्न चरणों में मानवीय संबंधों में बदलाव का असर 'जनता की चित्तवृत्ति' पर पड़ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जनता की चित्तवृत्ति में होनेवाले बदलाव को युग पविर्त्तन का लक्षण मानते थे। प्रेमचंद भी मानते थे कि 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।'[26] पिछले बीस-पच्चीस साल में युगांतकारी भौतिक परिवर्त्तन हुए हैं। परिवर्त्तन यह कि 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान के आधार पर दुनिया इतनी आजाद पहले कभी नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण!'[27] मुट्ठी भर लोगों ने दुनिया मुट्ठी में कर ली है! थोड़े-से लोगों के लिए दुनिया 'आजाद' और बहुत सारे लोगों के लिए 'अन्यायपूर्ण' हो गई है। नैतिक-चेतना से मुक्त 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान' के आधार पर होनेवाले विकास का व्याकरण विषमता का अनुमोदन करता है। ध्यान में रखना होगा कि 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है–– आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है।... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही

अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[28] रोजगार का सवाल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं नैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

'विषयभोग' और 'तप' की दो परम अतियों के त्याग और 'मध्यम मार्ग' को अपनाने का संदेश देनेवाले महात्मा बुद्ध ने 'दुखों' से मुक्ति के लिए 'अष्टांगिकमार्ग' का संधान किया था; 'सम्यक् कर्मांत' और 'सम्यक् आजीविका' उनमें से दो मार्ग हैं। यह बात बिल्कुल साफ है कि जिस सभ्यता में 'सम्यक् आजीविका' के अवसर कम होते हैं, उस सभ्यता में 'सम्यक् कर्मांत' का पालन करते हुए भी मनुष्य के दुखों का अंत नहीं हो सकता है। संसार का सबसे बड़ा दुख भूख है। दुनिया में भूख के रहते नैतिकता की बात बेमानी होकर रह जाती है। नैतिकता पर चिंता करनेवालों को भूख के बारे में सोचना होगा, साथ ही आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के उपायों के बारे में भी साचेना होगा। प्रोफेसर अमर्त्य सेन कहते हैं, 'आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के लिए अकालों की सृष्टि की प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है। यह केवल अनाजों की उपलब्धता और जनसंख्या के बीच किसी मशीनी संतुलन का मामला नहीं है। भूख के विश्लेषण में सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति या उसके परिवार की आवश्यक मात्रा में खाद्य भंडारों पर स्वत्वाधिकार स्थापना की स्वतंत्रता का है। यह दो प्रकार से संभव है: या तो किसानों की तरह स्वयं अनाज का उत्पादन करके या फिर बाजार से खरीदी द्वारा। आसपास प्रचुर मात्रा में अनाज उपलब्ध रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की आय के स्रोत सूख जाएँ तो उसे भूखा रहना पड़ सकता है।... कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्यपद्धति से भी प्रभावित होते हैं (केवल खाद्यान्न-उत्पादन और कृषि कार्यों का ही इन पर प्रभाव नहीं पड़ता)। आर्थिक-सामाजिक अंतर्निभरताओं के आज के विश्व में भुखमरी पर पड़ रहे प्रभावों को ठीक से समझना अत्यावश्यक हो गया है। खाद्य का वितरण किसी धर्मार्थ (मुफ्त में) अथवा प्रत्यक्ष स्वचालित विधि से नहीं होता। खाद्य सामग्री प्राप्त करने की क्षमता का उपार्जन करना पड़ता है।... खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[29] भूख से बचने का एक मात्र रास्ता 'आधिकारिता' है, जिसको 'सम्यक् रोजगार' से ही हासिल करना संभव है। रोजगार के अभाव में आदमी हर अच्छे एहसास से दूर होता जा रहा है; 'दुनिया ने तेरी याद से बेगान: कर दिया/ तुझ से भी दिलफ़रेब है ग़म रोजगार के'[30]।

रोजगार अर्थात जीवन-यापन पद्धति को समझने के प्रयास में आलोचना अगर पिछड़ जाती है तो वह जीवन को कैसे समझ पायेगी! आलोचना जीवन के नैतिक आधारों की वैधता को बार-बार जाँचती-परखती है। जीवन के नैतिक आधार में भारी क्षरण के कारण आलोचना का दायित्व भी पहले कहीं अधिक बढ़ा हुआ है। 'आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्त्ति करती दिखायी दे रही हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया है। न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए। कवि इस संघर्ष में बार-बार मानवीय रिश्तों की खोज करेगा और उनको जाँचेगा, सुधारेगा, बनायेगा और फैलायेगा। ये संबंध हृदय परिवर्तन से नहीं बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँच से बनेंगे।'[31] इस जाँच-परख में आलोचना को अपना मन लगाना है। आज आलोचना का काम सिर्फ काव्य से नहीं चल सकता है, उसे मन की पूरी पवित्रता और बुद्धि की संपूर्ण दक्षता के साथ समाज के पास भी पहुँचना होगा।

आलोचना सामाजिक संघर्ष में रचना के कंधे-से-कंधा लगाकर संघर्ष करती है। क्योंकि, 'साहित्य सामाजिक जीवन की ही ऊपज होता है, और समाज के लिए ही उसकी सार्थकता भी होती है। लेखक के लिए यह अनुभूति भी बड़ी संतोषजनक होती है कि कहाँ पर जीवन की गहराई में उतर पाया है, मात्र छिछले पानी में ही नहीं लोटता रहा, कहीं जीवन के गहरे अंतर्द्वंद्व को पकड़ पाया है। उस अंतर्विरोध को, जो हर युग और काल में समाज के अंदर पाए जानेवाले संघर्ष की पहचान कराता है, उन शक्तियों की भी जो समाज को यथास्थिति में बनाए रखना चाहती हैं, दूसरी ओर उन तत्त्वों को भी जो समाज को आगे ले जाने में सक्रिय हैं, इस अंतर्विरोध को पकड़ पाना कहानी लेखक के लिए एक उपलब्धि के समान होता है।'[32] आलोचना रचना के साधारणीकरण की प्रक्रिया को तो आगे बढ़ाती है, उसके सामान्यीकरण के लिए भी सतत सचेष्ट रहती है। सामान्यीकरण की यह प्रक्रिया साहित्य के सामाजीकरण की दिशा में आगे बढ़ती है। पाठक और श्रोता अर्थात ग्राहक को, सामाजिक कहे जाने को सार्थक बनाती है। जीवन के अंतर्द्वंद्व को देखने-पहचानने में आलोचना दीपक की भूमिका अदा करती है। आलोचना रचनात्मक संकेतों को सामाजिक अनुभवों के आलोक में 'डी-कोड' करती है।

आलोचना का प्रयोजन

रचना और आलोचना के द्वंद्व तो अपनी जगह होते ही हैं, रचनाकार और आलोलचक के द्वंद्व भी कम महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प नहीं होते हैं। रचनाकारों की शिकायतें कुछ हद तक सही

होती हैं। लेकिन आलोचकों की अपनी दिक्कतें होती हैं। केदारनाथ अग्रवाल हिंदी के प्रतिष्ठित कवि हैं, उनकी टिप्पणी गौर करने लायक है, ‘इधर मेरे कृतिकार को नकारने का प्रयास कुछेक व्यक्तियों ने किया है। मैंने इसे, किसी आधार पर उचित नहीं समझा। मैंने इसके प्रतिवाद में उन प्रयासकर्त्ताओं को आगाह किया है और उन्हें बताया है कि मेरे किये दिये को कोई नष्ट नहीं कर सकता है–– मैं उनके किसी भी प्रयास से परे हूँ और वे मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। यह उनकी सामर्थ्य के बाहर है कि मेरे कृतिकार का बाल बाँका कर सकें। ऐसा करना आवश्यक समझ कर ही मैंने इस संबंध में वे कविताएँ लिखीं और इस संकलन में दीं। मैं नहीं जानता कि मेरी इन कविताओं का इन प्रयासकर्त्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि वे थोड़ी देर के लिए भी अपने ऐसे किये पर सोचने को विवश हुए तो मैं समझूँगा कि मेरा प्रतिवाद करना सार्थक हुआ। यदि वे सोच में न पड़े और दिग्भ्रमित ही बने रहे तो मैं समझूँगा कि वे मेरी दया के पात्र हैं। मेरे काव्य के प्रेमी और दूसरे लोग भी उन्हें दया का पात्र समझेंगे। अच्छा होता कि प्रयास यह होता कि मेरी कविताओं का पूरी तरह से अध्ययन किया जाता और तब उसके गुण-दोष की विवेचना प्रस्तुत की जाती। ऐसा करने से मुझे भी अपने दोषों का ज्ञान होता ओर भविष्य में उन से बचने की पूरी कोशिश करता। यदि वैसी विवेचना भी तर्कसंगत न ठहरती तो मैं उसका भी तर्कसंगत उत्तर देता। ऐसी आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक प्रक्रिया से कवि-कर्म का महत्त्व उजागर होता और दूसरों को सही दृष्टि और दिशा मिलती। खेद है साहित्य में भी आतंक फैलाने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी है।’[33] ‘साहित्य में आतंक फैलाने की प्रवृत्ति’ पर ध्यान देना चाहिए। क्या साहित्य में आलोचना का आतंक सक्रिय होता है! यह सच है कि आलोचना की ओर से बिल्कुल बेखबर रहना आज रचनाकार के लिए संभव नहीं है। शायद पहले भी नहीं था। लेकिन आतंक कुछ ज्यादा ही बड़ा शब्द है। नागार्जुन आलोचना की कठिनाई को कुछ हद तक समझते तो हैं लेकिन एक तरह की शिकायत वहाँ भी तो है ही, ‘समकालीन आलोचकों में किसी जीवित साहित्यकार के प्रति संतुलित दृष्टि शायद ही मिलती है। आज से 35-40 वर्ष पहले प्रेमचंद की जो आलोचना होती थी, अब की आलोचना उससे अधिक सामंजस्यपूर्ण लगती है। 50 वर्ष बाद जो आलोचना होगी प्रेमचंद की वह और समीचीन होगी। एक समय था कि कलावादी आलोचक नगेंद्र ने प्रेमचंद को ‘द्वितीय कोटि का साहित्यकार’ घोषित किया था, परंतु हिंदी संसार ने इस घोषणा की तरफ कान ही नहीं दिए। आलोचक लाख ठप्पा लगाएँ, कोटि निर्धारण की अपनी अलग कसौटी होती है। जनता की आलोचना की वस्तुवादी दृष्टि में भी हेर-फेर होते रहेंगे। 1951-52 के आगे-पीछे सोवियत आलोचक बेस्क्रोवनी या हमारे रामविलास ने प्रेमचंद को जिन निगाहों से देखा, आगे 1971-72 में भावी आलोचक उन्हें और अच्छी तरह देखेंगे। जन साधारण का पक्षधर होना क्या भविष्य में भी इसी तरह दोष माना जाएगा कि प्रेमचंद की कीर्ति अब और अधिक नहीं फैलेगी?’[34] ध्यातव्य है कि तमाम शिकायतों के बावजूद ‘और अच्छी तरह देखने’ की उम्मीद तो ‘भावी आलोचक’ से ही बनती

है! जाहिर है आलोचना की जरूरत और आलोचना का प्रयोजन साफ-साफ समझ में आने लायक है।

विचारधारा और साहित्य के संबंधों को लेकर कुछ भिन्न तरह के आग्रह रखनेवाले लोग भी आलोचना के महत्त्व को कम करके नहीं आँकते हैं। 'कुछ पूर्वग्रह' में 'आलोचना की जरूरत' पर ध्यान देते हुए अशोक वाजपेयी जो निष्कर्ष निकालते हैं उन पर ध्यान देना चाहिए, उन्हीं के शब्दों में, "ऐन इस वक्त आलोचना-बुद्धि को एकाग्र सक्रिय रखना और उसे रचनात्मक प्रयत्न का अनिवार्य तत्त्व बनाना, संघर्ष की सार्थकता और और उसके सफल और कारगर होने की संभावना बढ़ाना है। संघर्ष के संदर्भ में ईमानदारी की ऐसी कोई भी परिभाषा अधूरी और ना काफी होगी जो आलोचना-बुद्धि की अनिवार्यता को स्वीकार न करती हो।" आगे वे यह भी बताते हैं, 'आज का अधिकांश लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्राय: इसका रचनात्मक अन्वेषण करता और उस पर निर्णय देता है। आलोचना भी अंतत:, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं का सहारा लेती है। उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तु-स्थिति की अपनी समझ है। जाहिर है इस समझ का वह समकालीन लेखन को जाँचते परखते वक्त इस्तेमाल करेगी।'[35] ध्यान देने की बात यह है कि यदि 'आलोचना भी अंतत:, आज भी आदमी की हालत की पड़ताल है' तो आम आदमी की हालत को समझने के लिए आलोचना को साहित्य की परिधि के बाहर भी झाँकने की जरूरत होगी ही। किसी 'स्वयात्तता' के नाम पर जीवन के यथार्थ से इतर की गुंजाइश कम ही बनती है। साहित्य का यथार्थ और यथार्थेतर भी एक तरह से जीवन-यथार्थ का ही अन्वेषण करता है। साहित्य के यथार्थ और जीवन के यथार्थ के अंतर और अंतरंग के संबंधों को ध्यान में बनाये रखना आलोचना का दायित्व है।

साहित्य का यथार्थ हो या जीवन का यथार्थ यह कभी भी न तो एकस्तरीय होता है और न एक आयामी। यथार्थ के कई पहलू होते हैं। 'जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ में एक अंतर होता है। वास्तविकता की झलक तो साहित्य में जरूर मिलती है, पर साहित्य मूल्यों से जुड़ा होता है। इसीलिए आदर्शवादिता के लिए साहित्य में तो बहुत बड़ा स्थान होता है, पर व्यावाहारिक जीवन में नहीं। इन मूल्यों में मानवीयता सबसे बड़ा मूल्य है। इस दृष्टि से साहित्य यथार्थ से जुड़ता हुआ भी यथार्थ से ऊपर उठ जाता है, लेखक यथार्थ का यथावत चित्रण करते हुए भी पाठक को यथार्थेतर स्तर तक ले जाता है जहाँ हम यथार्थ जीवन की गतिविधि को मूल्यों की कसौटी पर आँकते हैं। जीवन को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। इन में सच्चाई के अतिरिक्त न्यायपरता और जनहित, और मानवीयता आदि भी आ जाते हैं। मात्र यथार्थ की कसौटी पर सही साबित होनेवाली रचना हमें आश्वस्त नहीं करती। उसमें

मानवीयता तथा उससे जुड़े अन्य मूल्यों का समावेश आवश्यक होता है। और रचना जितना ऊँचा हमें ले जाए, जितनी विशाल व्यापक दृष्टि हमें दे पाए उतनी ही वह रचना हमारे मूल्यवान होगी।'[36] जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ के संबंध की समझ जीवन में साहित्य के प्रयोजन की समझ से उत्पन्न होती है।

'साहित्य में और जीवन में बहुत बड़ा अंतर भी है। साहित्य में भावनाएँ प्रमुख होती हैं, यदि साहित्य जीवन के यथार्थ से हमारा साक्षात भी कराता है तो मुख्यत: भावनाओं के माध्यम से। पर जीवन का व्यवहार मात्र भावनाओं के आधार पर नहीं चलतां वहाँ अपना हित, स्वार्थ, व्यवहारकुशलता, निर्मम होड़ की भावना आदि सब काम आते हैं।'[37] कहना न होगा कि साहित्य और जीवन में अंतर पर विचार करते समय सबसे पहले ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्य जीवन के अंदर की घटना है जबकि जीवन साहित्य के भीतर की घटना नहीं है। साहित्य जीवन का अंतर्वर्त्ती और जीवन साहित्य का बहिर्वर्त्ती प्रसंग है। दोनों के संबंधों पर विचार करते समय अंतर्वर्त्तिता और बहिर्वर्त्तिता के संदर्भों को ग्रहण करने से विचारधारा, यथार्थ, यथार्थेतर आदि की समझ के उलझाव कम होते हैं। साहित्य और जीवन के यथार्थ पर बात शुरू करते ही कुछ लोग 'कथनी और करनी' के भेद को नैतिक प्रश्न के रूप में उठाते हैं। ऐसे प्रश्नों के महत्त्व को कम करके आँकना ठीक नहीं है, लेकिन 'कथनी' और 'करनी' के सकारात्मक अंतर और नकारत्मक अंतर को ध्यान में रखना आवश्यक है। आलोचना इस अंतर पर नजर टिकाये रखती है। इसके लिए आलोचना जीवन और साहित्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष को एक ही दृष्टि-रेखा पर साधती है। आलोचना जीवन में निरंतर जारी प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच की आवाजाही को व्यवस्थित करती है; आलोचना जीवन में निरंतर जारी प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच की आवाजाही को विपथन से रोकती है। स्वस्थ आलोचना की संस्कृति के अभाव में जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच की आवाजाही को विपथन से रोक पाना मुश्किल होता है और संघ में संघात बढ़ जाता है।

साहित्य जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष को नये-नये ढंग से संयोजित करता है। इस संयोजन में साहित्य को विधायक और ग्राहक कल्पना से सहायता मिलती है। इस अर्थ में कल्पना ज्ञान का ही विस्तार है। क्योंकि 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।'[38] ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार को एक दूसरे में रचाना-बसाना साहित्य में निरंतर जारी रहता है। इसी में काव्य का कौतुक और मनोरंजन का तत्त्व निहित रहता है। 'कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है वही और सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिसे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किये रहती है, इधर-उधर जाने नहीं देती है।... कविता अपनी मनोरंजन शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाये रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुंदरता या विरूपता

अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है।.... कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का परम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ।'[39] मानेरंजन के उपरांत क्या होता है! मनोरंजन के उपरांत ज्ञान और भाव का, प्रत्यक्ष और परोक्ष का संबंध पाठक-श्रोता के चित्त में सुस्थिर होकर उनके अंत:करण के आयतन को विस्तार देता है। आलोचना अंत:करण के इस विस्तार में विवेक को पुष्ट करती हुई जीवन की नैतिक-प्रवणता को प्राणवंत बनाती है। जीवन और साहित्य की अंतर्वर्त्तिता और बहिर्वर्त्तिता में नैतिक-प्रवणता को प्राणवंत बानाने के संदर्भ में आलोचना का प्रयोजन स्पष्ट होता है।

आलोचना और शास्त्र

जीवन अपने समय के प्रश्नों से घिरा और बिंधा होता है। आलोचना का संबंध प्रश्नाकुलता से है। शास्त्र अपनी अपरिवर्तनीयता में जीवन से दूर होकर अंतत: अपनी लोच खो देते हैं। आलोचना अपनी गत्यात्मकता के बल पर इस लोच को बराबर बनाये रखती है। रूपक में इस तरह कहा जा सकता है कि शास्त्र तट है और आलोचना नाव है। नामवर सिंह ने आलोचना के दायित्वों की ओर संकेत करते हुए ध्यान दिलाया है, 'आलोचना का कार्य बराबर रहा है प्रतिष्ठाओं के सामने, प्रतिष्ठितों के सामने प्रश्न चिह्न लगाना और जो उपेक्षित स्तर के हैं और भविष्य के लिए अपेक्षित हैं उन लोगों के लिए शर्म की बात नहीं है बल्कि प्रवक्ता बनना साहित्य धर्म और आलोचना के अनुशासन का पालन ही करना है। संघर्ष समाज में, जीवन में जिस तरह हक के लिए होता है उसी तरह से आलोचना में भी बराबर होता है। आलोचना संघर्ष की प्रक्रिया है आस्वाद नहीं।'[40] निश्चित रूप से आलोचना सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया है सिर्फ आस्वाद नहीं। यहाँ 'सिर्फ' बहुत महत्त्वपूर्ण है। जहाँ शासन ठीक नहीं वहाँ शासन का अनुसरण यानी अनु-शासन, चाहे वह काव्यानुशासन ही क्यों न हो, कैसे और कितना निरापद हो सकता है!

काव्य-शास्त्र या काव्यानुशासन और अलोचना में यही तो अंतर है कि काव्य-शास्त्र काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति दोनों को काव्य-संरचना की आंतरिक शक्ति मानकर चलता है जब कि आलोचना काव्य-शक्ति और शब्द-शक्ति को सामाजिक-संरचना की आंतरिक-शक्ति मानकर अपना काम करती है। काव्य-शास्त्र प्रतिमान तलाशता और बनाता है आलोचना प्रतिपथ तालशती और बनाती है। प्रतिमान अनुल्लंघ्य होते हैं और प्रतिपथ अनुसरणीय होते हैं। काव्य-शास्त्र आप्त-वचन बनाता और उसे प्रमाण मानता है। आलोचना प्रश्न करती है और किसी आप्त-वचन को प्रमाण नहीं मानती है। काव्य-शास्त्र काव्य को आस्वाद प्रक्रिया से जोड़ता है और आलोचना काव्य को आस्वाद के अतिरिक्त संघर्ष प्रक्रिया से भी जोड़ती है।

रचना और जीवन प्रक्रिया के संघर्ष को आस्वाद से जोड़ना आलोचना की संघर्ष प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा है। संघर्ष में हर्ष के संपुट के लिए आवश्यक है कि सकारात्मक संघर्ष की हर प्रक्रिया को आस्वाद के आशय से संपृक्त किया जाये। इसके लिए आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है। और यह कोई निरपेक्ष परख नहीं होती है बल्कि अपने समय और समाज की सापेक्षता एवं प्रसंगानुकूलता में ही संभव होती है। इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में अलोचना की सामाजिकता का प्रश्न उभरता है।

विचारधारा का सवाल और आलोचना का खयाल

आलोचना को अनिवार्यत: 'भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित' रचनाशीलता का सहारा लेना होता है। स्वभाविक ही है कि नामवर सिंह जब मार्क्सवाद को राजनीतिक दर्शन के साथ-साथ एक विश्व दृष्टि भी कहते हैं और रचना के लिए इस विश्व-दृष्टि को ही अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं तो उनके इस निष्कर्ष के मर्म को आज नये सिरे और नई अर्थवत्ता के साथ ग्रहण करने और बरतने की जरूरत है। इस ग्रहण और बरताव के लिए आलोचना में सामाजिक सरोकार के नवोन्मेष की अवश्यकता है। इस नवोन्मेष के संदर्भ में मुक्तिबोध के निष्कर्ष याद आते हैं, ''साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होनेवाले ज्ञान-संवेदन तथा संवेदन-ज्ञान में ही है। इस ज्ञान-संवेदन और संवेदन-ज्ञान के परे जानेवाली 'समीक्षा' में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है, न सम्यकता। जब-जब समीक्षा इस मूलाधार को छोड़कर, विचारों की बारीकी और लक्ष्यों की ऊँचाई प्रदर्शित करने के गोपनीय या प्रकट उद्देश्य से, इधर-उधर भटकी है, उसने लेखकों और पाठकों को सच्ची सहायता देना छोड़ दिया है। कहा जाता है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिंब है। इस खंड-तथ्य को हम यों भी कह सकते हैं कि साहित्य में इन प्रतिबिंबों की रचना अनेक पैटर्न्स में होती है। जब तक समीक्षक उस जीवन को नहीं जानता, जिसके प्रतिबिंबों के विभिन्न पैटर्न्स में गुँथी हुई रचना की वह आलोचना करने बैठा है, तब तक वह समुद्र-दर्शन के नाम पर लहरें गिनता हुआ बैठा है। यदि वे लहरें आलोचक की बुद्धि की अज्ञाएँ न मानें तो इसमें आश्चर्य ही क्या! आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुत:, कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है। उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है, और उससे उबरना भी पड़ता है, कि लहरों का पानी उनकी आँख में न घुस पड़े। अपने वर्ग, समाज या श्रेणी की जिंदगी में अपनी जिंदगी की सही हिस्सेदारी के बगैर, जो समीक्षक उस जिंदगी के प्रतिबिंबों के पैटर्न्स का मूल्यांकन करने बैठता है, वह कभी भी सच्ची आलोचना नहीं कर सकता।''[41] विचारधारा कई बार आलोचना से अधिक शास्त्र के निकट खड़ी होने की कोशिश करती है। इसी कोशिश के कारण विचारधारा, आलोचना और रचना में एक तरह का अंतर्द्वंद्व भी उपस्थित होता है। यह सच है कि 'प्रत्येक लेखक अंतत: अपने संवेदन, अपनी दृष्टि, जीवन की अपनी समझ के अनुसार लिखता है। हाँ, इतना जरूर

कहूँगा कि मात्र विचारों के बल पर लिखी गई रचना, जिसके पीछे जीवन का प्रामाणिक अनुभव न हो, अक्सर अधकचरी रह जाती है।'[42] जीवन के अनुभवों की प्रामाणिकता की तलाश में आलेचना की सह-भूमिका के महत्त्व को समझा जा सकता है।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया को जीवन-विवेक अंतर्संयुक्त--- अंतर्ग्रंथित[43] और अंतर्बंधित[44] --- करता है। जीवन-विवेक सक्रिय होते ही आलोचनात्मक हो जाता है। अपने इसी आलोचनात्मक जीवन-विवेक के सहारे मनुष्य कर्मनाशा अवरोधों को दूर करने की कोशिश करता है। मुक्तिबोध बताते हैं, 'साहित्य-विवेक मूलत: जीवन-विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नहीं कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति से विश्लेषण की बात ही क्या! बगैर जीवन को जाने, बगैर जिंदगी को पहचाने, जो आलोचक केवल जीवन की गूँजों (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है, उसको किसी-न-किसी हद तक यांत्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है।'[45] जीवन को जानने का मतलब क्या है! जीवन के कई स्तर होते हैं। जीवन एक ही तरह का नहीं होता है। कहना न होगा कि एक विषम समाज में न सूरज सबके लिए एक साथ उगता है, न चाँद हर किसी के लिए प्यार का पैगाम लेकर आता है। नदियों में बह रहे पानी और खिले हुए फूलों के गीत एक ही तरह के आरोह-अवरोह पर नहीं गाये जाते हैं। जिस जीवन का साहित्य है, उस जीवन को जानना जरूरी है। जीवन को जानने के क्रम में ही 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' पर विचार करना जरूरी हो जाता है। हिंदी साहित्य में 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' पर विचार का द्वंद्व दलित लेखन के खास संदर्भ में उठकर तीखा बना है। इस संदर्भ में यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है कि 'स्वानुभूति' के विस्तार से विकसित 'सहानुभूति' के रचनात्मक विनियोग का अपना महत्त्व है। श्रेष्ठ साहित्य में इस विनियोग को चिह्नित किया जा सकता है। हमारे समय में प्रतिनिधितंत्र का काफी असर है। जन से अधिक महत्त्व जनप्रतिनिधि का है। कठिनाई तब सामने आती हे जब साहित्य 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' दोनों से वंचित होकर 'तदानुभूति' को ही पर्याप्त माने जाने पर बल देने लगता है। यदि जीवन का व्यापक परिप्रेक्ष्य रचना और आलोचना दोनों के लिए जरूरी है। जीवन को जानने का अर्थ सिर्फ ज्ञान से संबंधित नहीं है, बल्कि संवेदना से भी है। साहित्य में जिस तरह से जीवन को जानना होता है, उस तरह से जीवन को जानने के लिए आँख का खुली रहना तो आवश्यक है ही, कभी-कभी आँख का बंद होना भी जरूरी होता है। प्रकृति इस बात का पर्याप्त संकेत देती है। पलक थोड़े-थोड़े अंतराल पर खुद-ब-खुद झपक जाती है। कहाँ आँख का खुली रहना जरूरी है और कहाँ आँख का बंद रहना जरूरी है, इसे तय करने में ही जीवन-विवेक की जरूरत होती है। जीवन-विवेक न उभय-निष्क्रियता की बात करता है और न निष्पक्षता की। ऐसा इसलिए कि विषम समाज अपनी निर्मिति में ही पक्षपातपूर्ण होता है। पक्षपातपूर्ण वातावरण में,

निष्पक्षता चालू पक्षपातपूर्ण व्यवस्था के समक्ष आत्मसमर्पण है। इसलिए साहित्य को सदैव सकारात्मक पक्षपात के महत्त्व को समझना होता है। यह बहुत ही सूक्ष्म काम है, आलोचना जीवन-विवेक के साथ जुड़कर ही यह काम करती है। इस काम के लिए समाज में आलोचना की संस्कृति की प्रतिष्ठा अनिवार्य है।

आलोचना का उद्देश्य विचारों का विपणन नहीं है। आलोचना का काम जीवन को मनोरम और मानवीय बनाने के लिए प्रतिपथ की तलाश की असमाप्य प्रक्रिया को संस्कृति के केंद्र में सक्रिय रखना है। आलोचना की इस असमाप्य प्रक्रिया का एक संसार साहित्य में बसता है। साहित्य जीवन में बसता है। साहित्य की आलोचना जीवन की मृदु-कठोर भूमि से ही अपना प्राणरस पाती है। आलोचना के लिए पाठ की संदर्भच्युत बहुलता को वैध आधार मानना पर्याप्त नहीं हो सकता है। आज जीवन और आलोचना दोनों ही क्षयिष्णु होते जा रहे हैं। क्षयिष्णुता के सांस्कृतिक-पाठ की राजनतिक-प्रक्रिया को ध्यान से पढ़ना चाहिए। विचारों के विपणन से बहुत आहत है आलोचना का मन और आज का जीवन। जीवन में संग्रह और निग्रह, स्वीकार और अस्वीकार, यह और वह जैसे विकल्पों में से किसी कुछ के चयन की प्रक्रिया सतत जारी रहती है। सारे विकल्प वास्तविक भी नहीं होते हैं। अधिकतर विकल्प आभासी ही होते हैं। कहते हैं कि दुविधा में 'माया' और 'राम' दोनों से हाथ धोना पड़ता है। जहाँ तक विकल्पों की बात है, 'माया' और 'राम' में कोई अंतर नहीं होता है। 'राम' भी 'माया' का ही एक रूप है। जीवन में सारे विकल्प औषधि और विष विलगा लिये जाने की सहज संभावनाओं के ही साथ उपस्थित नहीं होते हैं। औषधि और विष के बीच बहुत सारे रसायन होते हैं। आदमी हमेशा एक प्रकार के चयन संकट में निरंतर फँसा रहता है। इस चयन संकट को दुविधा कहते हैं। चयन संकट में फँसे आदमी को उबरने का विश्वसनीय सहारा आलोचना देती है। संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ जीवन में आभासी और वास्तविक विकल्पों की बहुलता भी बढ़ती जाती है। विकल्पों की बहुलता से चयन संकट भी बढ़ता जाता है। चयन के गलत होने की आशंका भी बढ़ जाती है। इससे बचाव के लिए सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानसिक संरचना में आलोचना-बुद्धि और प्रवृत्ति की प्रखरता और दृढ़ता में सतत वृद्धि होते रहना जरूरी होता है। लेकिन ऐसा होता नहीं है। अंतर्दृष्टि आभासी विकल्पों की बहुलता से अक्सर चुँधिया जाती है। चुँधियाई हुई अंतर्दृष्टि अंतत: थक कर निश्चेष्ट होने लगती है। परिणाम यह होता है कि आलोचना-दृष्टि अंधता की चपेट में आ जाती है। आलोचनात्मक विवेक की धारोष्ण सक्रियता की सामजिकता को बनाये रखना सांस्कृतिक दायित्व है। यह दायित्व जीवन के प्रति गहरे और नि:शर्त अनुराग से ही निभ सकता है। पोथियाँ चाहे जितनी महान क्यों न हों, आलोचनात्मक-विवेक को सिर्फ पोथियों में व्यक्त विचारों के मंथन से हासिल नहीं किया जा सकता है। 'प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों

और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाय, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।'[46]

शास्त्र पूर्व-आधुनिक निर्मिति है। शास्त्र में 'स्वत:-प्रमाण' का आग्रह होता है। आलोचना अपना प्रमाण जीवन में ढूढ़ती है। शास्त्र में पुनर्विचार के लिए कोई जगह नहीं हेती है। आलोचना बार-बार विचार किए जाने के लिए प्रस्तुत रहती है। आलोचना का प्राण ही पुनर्विचार में बसता है। संदेह[47] और पुनर्विचार आधुनिकता के दो महत्त्वपूर्ण आधार हैं। इस अर्थ में आलोचना आधुनिक वृत्ति है। आलोचना पूर्व-आधुनिक निर्मिति और आधुनिक वृत्ति के संबंधों पर निरंतर विचार करती है। 'विचारशीलता आधुनिक संवेदना का अनिवार्य हिस्सा है और एक जरूरी यकीन भी है कि अगर अक्ल आदमी की दुश्मन नहीं तो अक्ल कविता की भी दुश्मन नहीं हो सकती है। इस (20वीं) सदी के प्रमुख विचारक और चिंतक मार्क्स, फ्रायड, आइन्सटाइन, सार्त्र आदि अमानव नहीं थे, न ही उनका लेखन और चिंतन कविदृष्टि-विहीन है। आज अधिकांश भयानक और अनचाहा हमारे जीवन में हो जाता है उसकी जड़ में बौद्धिकता नहीं मूर्खता होती है— मूर्खतापूर्ण और अपने तत्काल स्वार्थ से आगे न सोच पाने की बौद्धिक अक्षमताएँ। विचार-संपन्नता अकाव्यात्मक नहीं— उस कवित्व का आधार है जो हम उपनिषदों, गीता कबीर, गालिब आदि में पाते हैं।'[48] इधर उत्तर-आधुनिकता आधुनिक-वृत्ति को पलटते हुए पूर्व-आधुनिक निर्मिति और आधुनिक वृत्ति के संबंध के गुणसूत्रों को तोड़कर विचार और विचारधारा के अंत की घोषणा में संलग्न है तो उसके पीछे अनालोचन के दुराग्रहों की सक्रियता को सचेत होकर परखना चाहिए। कहना न होगा कि राजनीति इस समय का महावृत्तांत[49] है। इसलिए यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि हमारे समय में आलोचना की संस्कृति पर अपघात और अनालोचन के दुराग्रहों का संबंध ही निश्चित ही राजनीति से भी बनता है। ध्यान में रखना जरूरी है कि आधुनिकता, विचारशीलता और जनतंत्र के बीच अन्योनाश्रित ही अंतर्आवयविक संबंध है। इस समय आधुनिकता, विचारशीलता और जनतंत्र के बीच अन्योनाश्रित और अंतर्आवयविक संबंध पर गहरे आक्रमण हो रहे हैं। इस अक्रमण को समझने में आलोचना की गहरी भूमिका है और इस आक्रमण से बचाव के लिए आलोचना की संस्कृति की प्रतिष्ठा आवश्यक कर्त्तव्य है।

जो लोग साहित्य और राजनीति को एक दूसरे से दूर रखने के आग्रही हैं, उनके आग्रह के परोक्ष को प्रत्यक्ष करना आलोचना का दायित्व है। क्योंकि, 'राजनीति का गलत-सही गहरा प्रभाव कविता पर भी पड़ता रहा है। स्वतंत्रता के बाद से भारतीय जीवन और साहित्य में राजनीति का हस्तक्षेप तेजी से बढ़ा है: राजनीतिक चिंतन का नहीं चिंतन रहित राजनीति का— और यह एक खास माने में साहित्य के लिए चिंता का कारण है। यूरोपीय राजनीति

वहाँ के साहित्य के साथ जितनी गहराई से जुड़ी है उससे कहीं ज्यादा गहराई से वह वहाँ के गैर-साहित्यिक विचारकों से जुड़ी रही है। यूरोप में (अकेले वाम-पंथी चिंतन को ही सोचें तो) मार्क्स के बाद मार्क्सवाद के पक्ष-विपक्ष में सोचनेवाले सशक्त विचारकों की एक लंबी परंपरा है जिसका चिंतन और साहित्य के साथ संवाद साहित्य को अनेक स्तरों पर प्रभावित करता रहा है। लुकाच, गोल्डमान, फिशर आदि का पूरा चिंतन साहित्यक उदाहरणों से भरा पड़ा है। ऐसी कोई स्थिति भारतीय संदर्भ में नहीं बनती, यहाँ तक की आज गाँधीवादी या समाजवादी या मार्क्सवादी विचारधाराओं और उनकी राजनीति के बीच फर्क करना ही मुश्किल हो गया है। इसीलिए शायद पिछले वर्षों में अधिकांश हिंदी कविता भारतीय राजनीतिक यथार्थ को लेकर उग्र और व्यग्र ही ज्यादा रही, विचारशील कम।'[50] यह सच है कि राजनीतिक यथार्थ को लेकर उग्र और व्यग्र होने के बदले विचारशील होना अधिक जरूरी है। इस जरूरत को पूरा करने में आलोचना की भूमिका है।

जीवन के यथार्थ और साहित्य के यथार्थ को 'जल में कुंभ और कुंभ में जल' के रूपक से समझा जा सकता है। 'बाहर और भीतर के पानी' के यथार्थ को समझने पर विचारधारा के 'बाहरी' और 'भीतरी' होने को ठीक से समझा जा सकता है। साहित्य और विचारधारा तो जीवन का अंतर्वर्त्ती प्रसंग है। इसलिए साहित्य और विचारधारा को जीवन से स्वायत्त मानने में आत्म-विभ्रम का तत्त्व है। 'हम छायावाद को बौद्धिक स्तर पर, और उसके तीन चार मूर्धन्य कवियों के ठोस कृतित्व के साक्ष्य पर किसी बाहरी विचारधारा से नहीं जोड़ सकते। उसमें अनेक तरह के विचारों का समुच्चय था पर वह किसी साहित्य के बाहर की विचारधारा से अनुप्राणित नहीं था या उसका साहित्यिक संस्करण नहीं था। वह साहित्य का अपना स्वायत्त आंदोलन था जिसमें बाहर के विचारों का भी योगदान था लेकिन जिसके अपने स्वायत्त अस्तित्व और पहचान को स्पष्ट ही देखा जा सकता है। यही बात प्रयोगवाद के को लेकर भी कही जा सकती है कि उसमें राजनीतिक दृष्टि से विरोधी विचार रखनेवाले भी साथ थे क्योंकि वह छायावादोत्तर कविता की भावुकता, सरलदिमागीपन और बुद्धिविरोध के विरुद्ध एक साहित्यिक प्रतिक्रिया थी। स्वयं 'नई कविता' नामक आंदोलन कभी एक तरह से विचार रखनेवालों का नहीं रहा, बल्कि उसमें भी अनेक विचारों और भावबोधों का समुच्चय था। प्रगतिशीलता और जनवाद के नाम से जो अत्यंत व्यापक आंदोलन इस समय हिंदी में है वह मौलिक रूप से साहित्य का आंदोलन नहीं रहा है: इसके बावजूद उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, इससे इन्कार नहीं है। निराला ने 1934 में कहा था: ''जो केवल दूसरों के विचारों का संग्रह करते हैं वे लेखक नहीं। वे तो साहित्यक मजदूर हैं। उनके परिश्रम का मूल्य अवश्य है, परंतु शाश्वत साहित्य के मंदिर में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।'' कविता की स्वायत्तता का आग्रह उसे राजनीति या जनजीवन से विमुख करना नहीं बल्कि इस बात पर बल देना है कि कविता की सचाई से दूसरे किसी माध्यम में अनुवाद की

जा सकनेवाली सचाई नहीं है, कि कविता का सचाई से और इसलिए जीवन से उतना ही सीधा और अर्थसमृद्धिकारी संबंध है जितना कि राजनीति का, कि कविता के लिए समकक्षता की माँग शक्ति और सत्ता के राजनीति के पक्ष में झुके संतुलन को चुनौती देना है, कि कविता राजनीति की तरह पर्याप्त कर्म है और कि कविता भाषा में ऐसा कुछ करती है और उसके माध्यम से जीवन में, जो कि राजनीति या अन्य अनुशासन नहीं कर सकते।'[51]

'मौलिक रूप से साहित्य का आंदोलन' क्या मतलब! मौलिक तो जीवन है! ध्वनि यह कि जिसे नश्वर संसार के शाश्वत साहित्य के मंदिर में जगह सुरक्षित रखनी हो उन्हें दूसरों के विचारों से दूरी बनाकर रखनी चाहिए! निराला के कहे का क्या वही आशय है जिसे ध्वनित करने का भोलापन यहाँ दिखता है! वैसे भी शाश्वत के आग्रही देवपुरुषों के लिए तो पूरी दुनिया ही द्वितीया होती है। निराला का आशय तो सिर्फ इतना ही था कि विचार को अपने विवेक और काव्यचेतना की संगति के बिना ज्यौं-का-त्यौं काव्यारोपित करना गलत है। वे मजदूरों के महत्त्व को भी कम नहीं आँकते हैं, नहीं तो क्या वे इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती मजदूरनी को उस काव्य-दृष्टि से देख पाते! और प्रेमचंद क्या कहते हैं? यह जानना इसलिए भी अधिक दिलचस्प है कि उनका साहित्य महत्त्वपूर्ण भी है और उसमें विचार का भी पूरा निभाव है। वे अपने को साहित्य का मजदूर ही मानते थे। '"मैं मजदूर हूँ। जिस दिन न लिखूँ, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है" – ये शब्द उनके होठों के सिर्फ आभूषण नहीं थे।'[52]

आलोचना के लिए राजनीति, विचारशीलता और भावना में संबंध और संतुलन बनाये रखना एक चुनौती है। इस संबंध और संतुलन के रचनात्मक विनियोग में यथार्थ और कल्पना के रमणीयात्मक प्रसंग के समावेश की जरूरतों के कारण यह चुनौती और गहरी हो जाती है। साहित्य में चेतन के साथ ही अवचेतन की बड़ी भूमिका होती है। कविता में अवचेतन की भूमिका साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में अधिक होती है। इसलिए, 'एक कविता में विचारों और भावनाओं की आपेक्षिक स्थितियाँ, उनके सही या गलत या कमजोर अर्थ-विन्यास पर गुणत्मक असर डालती हैं। अगर एक कवि के स्वभाव में यह आवश्यक संतुलन नहीं है कि वह कविता में विचारों के दबावों और आग्रहों को किस तरह उभारे और सुरक्षित रखे तो ज्यादा संभावना यही है कि वह उन्हें अपने उद्गारों या भावनाओं द्वारा ऊपर से चमका-दमका (ग्लेमराइज) करके रह जायेगा, हमें उनके भीतरी तर्क की शक्ति और अनुभूति तक नहीं पहुँचा पायेगा। जो कवि इस ओर पूरी तरह सचेत है कि विचारशीलता और भावनाएँ आदमी की दो भिन्न प्रकार की (विरोधी प्रकार की नहीं) क्षमताएँ हैं उसकी कविताओं में हम एक खास तरह का विचारों का उदात्तीकरण पायेंगे, मात्र उनका उद्दीपन नहीं।'[53] साहित्य का संबंध मनुष्य सत्ता की समग्रता से है और 'इस संपूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक

साहित्य है।'[54] जाहिर है कि राजनीति और साहित्य को बहुत देर तक अलग-अलग रखना असंभव है। इस असंभव को संभव करना सिर्फ इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि साहित्यकार खुद क्या चाहता है। यह मानना ही पड़ेगा कि 'यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है – बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजाल न हो।'[55] सच्ची वास्तविक अनुभूति और छद्मजाल में अंतर करना आलोचना का दायित्व है। इस अंतर करने में चूक से वैचारिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यहीं इस बात पर ध्यान दिये जाने की जरूरत है कि किसी खास राजनीतिक आग्रह के कारण कभी-कभी वैचारिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न करने के खास मकसद से भ्रष्ट-आलोचना जान-बूझकर यह चूक करती है। इस बात को याद किया जाना चाहिए कि 'वैचारिक अराजकता पूँजीवाद के उसी प्रकार हित में है जिस प्रकार घोर अध्यात्मवाद। इन दोनों सिरों को वह बहुत आराम से उदारता के नाम पर अपने में समा लेता है।'[56] उत्तर-आधुनिक आग्रहों को गौर से देखने पर इस वैचारिक अराजकता की स्थिति अधिक स्प्ष्टता से समझ में आ सकती है। आज के वैचारिक अराजकता से 'उदारीकरण' के संबंध में इस उदारता असर देखा जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था की उदारता के गर्भ में पलनेवाले वैचारिक अराजकता को मुक्तिबोध ने ठीक पहचाना था। इस पहचान का भरपूर असर मुक्तिबोध के आलोचना-कार्य में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के आलोचना-कार्य में ही नहीं बल्कि कमोबेश प्रगतिशील और सभी जनमुखी आलोचकों के आलोचना-कार्य में इस पहचान को अंत:सलिला के रूप में व्याप्त देखा जा सकता है।

विभाजित समाज में अखंड मानवतावाद : आलाप और अंतर्विरोध

विभाजित समाज में संपूर्ण मनुष्य-सत्ता पर ध्यान एकाग्र रखना कितना मुश्किल होता है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। विभाजित समाज चाहे जिस किसी व्यवस्था में हो वह मुक्त नहीं होता है। विषमता समाज को विभाजित कर दुख-ग्रस्त करती है और समता समाज को एक कर दुख-मुक्त करती है। विषमता और समता के बीच का संघर्ष सभ्यता का मुख्य संघर्ष है। यह सच है कि, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।'[57] लेकिन सच तो यह भी है कि विभाजित समाज को न तो 'ज्ञानदशा' ही हासिल होती है और न ही 'रसदशा'। क्योंकि दुख-ग्रस्त समाज में न आत्मा अपनी मुक्तावस्था को हासिल

कर पाती है और न हृदय की मुक्तावस्था का कोई सुयोग बनता है। कहना न होगा कि 'हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है' उस शब्दविधान को हृदय और आत्मा की मुक्ति की वैयक्तिक साधना से आगे बढ़कर दुख-मुक्ति के लिए विषमता के साथ सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया में ढल जाना पड़ता है। यह संभव ही नहीं है कि समाज तो विभाजित रहे और मानवतावाद अखंडित रहे। विभाजित समाज का अखंड मानवतावाद विभ्रम रचता है। इस विभ्रम को तोड़ने के लिए साधना से संघर्ष तक की यात्रा के साथ ही व्यक्ति से समाज की समांतर यात्रा भी रहती है। इस समांतर यात्रा का पथ बहुत आसान नहीं होता है। आलोचना इस कठिन पथ के पाथेय का जुगाड़ करती है।

साहित्य के केंद्र में मनुष्य के होने की बात पर आम-सहमति है। कठिनाई तब उपस्थित होती है जब इस मनुष्य की पहचान की बारी आती है। समाज में विषमता का मूल कारण भेद-भाव है। भेद-भाव के रहते एकता संभव नहीं होती है। एकता के लिए समता अनिवार्य शर्त्त है। विभाजित समाज में, एकता की बात बेमानी होती है। विभाजित समाज में छद्म आधार पर हासिल एकता भी छद्म और भंगुर होती है। सबसे खतरनाक बात यह होती है कि यह छद्म एकता शोषण को बढ़ावा देने में व्यवहृत होती है। साहित्य के केंद्र में जो मनुष्य होता है वह निश्चित रूप से मनुष्य के एक होने की बात पर बल देनेवाला होता है। कुछ लोग ईश्वर के एक होने की बात पर तो बहुत बल देते हैं लेकिन मनुष्य के एक होने की शर्त्त, अर्थात मनुष्य की समानता की बात, पर कन्नी काटने लगते हैं। 'मेरी धारणा है कि साहित्य के केंद्र में मानव है, व्यक्ति है परंतु वह व्यक्ति अलग-थलग नहीं है– अपने में संपूर्ण इकाई नहीं है।'[58] संपूर्ण इकाई अखंड मनुष्यता की निहित एकता है। साहित्य इस 'अखंड मनुष्यता की निहित एकता' के लिए संघर्ष करता है। आलोचना इस संघर्ष की राह में बने अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने के लिए सतत सक्रिय रहती है।

लेकिन साहित्य भी कोई एक-स्तरीय नहीं होता है और न ही अपने समय के सवाल और राजनीति से ही अलग होता है। जाहिर है, विभाजित समाज का मानवतावाद भी खंडित ही होता है। जो साहित्य सामाजिक विभाजन को दूर करने के संघर्ष में समुचित सांस्कृतिक योगदान के लिए सचेष्ट हुए बिना अखंड मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए संघर्षशील होने की बात करता है, उस पर विश्वास करने के पहले अपने को धोखा खाने के लिए तैयार कर लेना चाहिए। 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'[59] इस वास्तविक दुनिया में रहना बहुत ही कठिन होता जा रहा है। 'संवेदनशील मनुष्य को जीने के लिए, दो बातें विशेष रूप से आवश्यक हैं। एक तो यह कि सांसारिक क्षेत्र में उसकी सर्वांगीण

सामंजस्यपूर्ण उन्नति होती चली जाये; दूसरे, उसके सम्मुख कोई ऐसा आदर्श हो जिसके लिए वह जी सके या मर सके।'[60] आज संवेदनशील मनुष्य के सामने सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति के लिए न कोई समुचित अवसर है और न उसके सम्मुख ऐसा कोई आदर्श बचा है जिसके लिए वह जी या मर सके। अब इस बात पर गौर किया जाना चाहिए कि सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति के अवसर के निर्माण का दायित्व मुख्य रूप से राजनीति पर होता है और आदर्श को सामजिक मन में बनाये रखने में साहित्य की भूमिका प्रमुख होती है। आदर्श के सृजन और विसृजन की राजनीति को समझना होगा। इस समझ को बनाने में साहित्य की और टिकाये रखने में आलोचना की गहरी भूमिका होती है।

कालिदास का लालित्य किसे नहीं मोह लेता है! सच है कि कालिदास के समय में पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ था, लेकिन निस्संदेह उस समय की व्यवस्था समतावादी नहीं थी। बौद्ध-दर्शन समता के संदेश के साथ उपस्थित हुआ था। बौद्ध-दर्शन और वैदिक-दर्शन में टकराव था। सभ्यता के अंतरंग में यह टकराव आज भी जारी है। कालिदास के लालित्य के मोह से मुक्त होने पर यह बात समझ में आ सकती है कि 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृत के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृत के कवियों ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'[61] आलोचना इस तरह से रचना को उसके परिप्रेक्ष्य में हासिल कर सामाजिक संवेदना के संदर्भ में बार-बार अन्वेषित करती है। विचारधारा के सवाल और आलोचना के ख्याल का संबंध अपने समय में मनुष्य-सत्ता की समग्रता से होता है। आलोचना इस संपूर्ण मनुष्य-सत्ता पर अपना ध्यान एकाग्र रखती है। इस बात को समझनेवाले साहित्यकार ही यह महसूस कर सकते हैं कि 'जो जाति, जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौंदर्य तथा मानवादर्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बढ़ा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढ़ी हुई है, उसी हद तक मुक्ति-संघर्ष भी बढ़ा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास भी बढ़ी हुई है। आज के युग में साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास का चित्रण करे, और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके।'[62] प्रदूषण और शोषण आज के समय में संघर्ष के दो महत्त्वपूर्ण

संदर्भ हैं। आलोचना जीवन के संदर्भ से प्राकृतिक पर्यावरण में व्याप्त प्रदूषण और सामजिक पर्यावरण में व्याप्त शोषण के खिलाफ संघर्ष खड़ी करती है।

दुनिया के सभी महान साहित्यकारों और विचारकों में ढूढ़ने पर कई स्तर पर अंतर्विरोध मिल जायेंगे। ऐसे अंतर्विरोध विचारकों ओर साहित्यकारों में ही नहीं होता महान पात्रों में भी होता है; वह पात्र राम और कृष्ण जैसे पौराणिक पात्र भी हो सकते हैं और होरी[63] या डॉ प्रो. तत्सत पांडेय[64] जैसे साहित्यिक पात्र में भी हो सकते हैं। सवाल उठता है कि आलोचना को उन अंतर्विरोधों के साथ कैसा सलूक करना चाहिए। एक तरीका यह हो सकता है कि आलोचना उन अंतर्विरोधों को सामने लाकर उन महान साहित्यकारों और विचारकों की महानता को खंडित कर दे। आलोचना का प्राणधार आधुनिकता है। आधुनिक दृष्टि का तकाजा है कि जीवन को उसके अंतर्विरोधों के बीच से देखा जाये। आलोचना इन अंतर्विरोधों को साधते हुए विरुद्धों के बीच सामंजस्य हासिल करने उनसे बाहर निकलने का रास्ता खोजती है। आलोचना को किसी भी तरीके का इस्तेमाल करते हुए इतनी-सी बात याद जरूर रखनी होगी कि महानता को स्थापित करने में आलोचना की भूमिका चाहे जैसी और जितनी होती हो, लेकिन महानताओं का निवास जनता के चित्त में होता है। जनता के चित्त से महानता को एक झटके में उतार फेंकना आसान तो नहीं होता है, कई बार गैर-जरूरी और आत्मघातक भी होता है।

महान लोगों के विचारों में एक तरह का स्वाभाविक अंतर्विरोध हुआ करता है। यह अंतर्विरोध उनके व्यक्तित्व का तो होता ही है उनके समय का भी होता है। दरअसल, अंतर्विरोध इतिहास की धुरी में छिपा होता है। जिनमें सिर्फ अपने व्यक्तित्व का अंतर्विरोध होता है उनकी बात और है लेकिन जिनके अंदर समय का अंतर्विरोध होता है, वे इतिहास का हिस्सा बन जाते हैं। बार-बार उन अंतर्विरोधों के संदर्भ आते हैं। आलोचना बार-बार उनको याद करती है। आलोचना के साथ कभी-कभी दिक्कत यह होती है कि वह अंतर्विरोधों के किसी एक ही हिस्से को थामकर सच को अपनी मुट्ठियों में भिंच लेने की गलतफहमी में फँस जाती है। 'यदि आप जीवन को उसके अंतर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में देख रहे हैं तो आपकी कहानी में आधुनिकता आएगी ही, यह अनिवार्य है, क्योंकि जीवन के भीतर पाया जानेवाला अंतर्विरोध वास्तव में जीवन को बदलनेवाली शक्तियों और जीवन को यथावत बनाए रखनेवाली शक्तियों के बीच ही विकट संघर्ष का रूप लेता है, और इस तरह युगबोध के स्वर अपनेआप ही उसमें से फूट-फूट पड़ते हैं, पर यदि आप आधुनिकता को भाषा, शैली, शिल्प के प्रयोगों के या फिर मात्र सैक्स के उन्मुक्त प्रदर्शन से जोड़ते हैं, और इन तत्त्वों को कहानी में इसलिए लाने की कोशिश करते हैं कि वह आधुनिक भावबोध की कहानी कहला सके, तो मैं समझता हूँ, यह अपने को धोखा देने वाली बात है।'[65] इस समय आलोचना का महत्त्व इस बात में है कि आज विरुद्धों में सामंजस्य स्थापना की तुलना में व्यवस्था की दिलचस्पी अविरुद्धों के बीच असामंजस्य स्थापित करने में अधिक है। स्थापित सत्ताओं में इस तरह की

दिलचस्पी सदैव रही है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के इस दौर में सामान्य जीवन पर तकनीक के बढ़े हुए वर्चस्व के कारण स्थापित सत्ताओं की यह प्रवृत्ति अधिक खतरनाक हो गई हैं। आलोचना इस खतरे का सामना करने के साहस का नाम है।

आलोचना का अंतत:

साहित्य का मूलाधार भाव में है या विचार में? यह साहित्य कल्पना के आँचल तले अधिक विकसित होता है या यथार्थ की अँगुली पकड़कर सही दिशा में आगे बढ़ता है? ज्ञान उसके काम का है कि संवेदना? मुक्तिबोध ज्ञानात्मक-संवेदना और संवेदनात्मक-ज्ञान की बात करते थे। मुक्तिबोध विचारधारा के साथ-साथ भावधारा का भी प्रयोग करते थे। साहित्य इस तरह के प्रश्नों से जूझता रहा है। हर युग में इस तरह के सवाल अपना रूप बदलकर बार-बार उठते हैं और समय से अपना जवाब माँगते हैं। ठीक से विचार करने पर यह बात साफ होती है कि इस तरह के सवाल 'अनन्य' को 'अन्यान्य' की तरह पेश करते हैं।

साहित्य को भाव भी चाहिए और विचार भी चाहिए, ज्ञान भी चाहिए और संवेदना भी चाहिए, कल्पना भी चाहिए और यथार्थ भी चाहिए। जीवन के लिए जो भी जरूरी है उन सब का सत्व साहित्य को चाहिए होता है। इस सत्व से ही जनता की चित्तवृत्ति अपना रूपाकार और अपना प्राणत्व पाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की बात याद करें तो, 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति में पविर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'[66]

जनता की चित्तवृति का पंछी उतरता तो है रस-साहित्य के आँगन में लेकिन उसे पहचानता है ज्ञान-साहित्य, अर्थात आलोचना। आलोचना स्थापितों के सामने प्रश्न करती है। आलोचना प्रश्न करने का साहस पैदा करती है। आलोचना किसी को भी अनालोच्य नहीं मानती। जाहिर है कि आलोचना खुद भी आलोचना की जद से बाहर नहीं हो सकती। आलोचना अपने को स्वत:-प्रमाण नहीं मानती है। लेकिन अपने समक्ष प्रश्न खड़े किये जाने पर आलोचना भी किसी से कम परेशान नहीं होती है! आलोचना को प्रमाण मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता है!

आलोचना से किसे शिकायत नहीं है? हर किसी को है! आलोचना को भी आलोचना से शिकायत है! शिकायत चाहे जितनी हो, अपने खास अर्थ में, आलोचना की संवेदना अंततः

साहित्य और जीवन के बीच जारी निरंतर की आवाजाही से निर्मित और नियंत्रित होती है। साहित्य और जीवन के बीच निरंतर जारी आवाजाही को सहज, सार्थक और सुग्राह्य बनाना तथा इस आवाजाही में बननेवाले अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की कोशिश करना आलोचना का दायित्व है; वह अंध-बिंदु खुद आलोचना का भी हो सकता है।

संदर्भः

1.दीवान-ए-ग़ालिब: राजकमल पेपर बैक्स - सातवीं आवृत्ति 2004 : अली सरदार जाफ़री

2.दीवान-ए-ग़ालिब: राजकमल पेपर बैक्स - सातवीं आवृत्ति 2004 : अली सरदार जाफ़री

3.Vicious Circle के अर्थ में

4.कबीर: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर-वाणी : राजकमल प्रकाशन 1980

5.जिस प्रकार लकड़ी पर घुन की बनाई आकृति कभी-कभी अक्षर की तरह बन जाती है।

6.गीता: प्रथम अध्याय ।। 24 ।। गीता प्रेस, गोरखपुर : 'एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत। सेनयोरु भयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम।।'

7. फ़ैज अहमद फ़ैज: प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल पेपर बैक्स-2003: निसार तेरी गलियों के

8.रैन-दिन का अर्थ सुख-दुख लेना चाहिए।

9.आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर: कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन

10.आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर: कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन

11.एकांत श्रीवास्तव: जो कुरुक्षेत्र पार करते हैं: बीज से फूल तक: राजकमल प्रकाशन 2003

12.अरुणकमल: नये इलाके में : नये इलाके में

13.अरुणकमल: यह वो समय: नये इलाके में

14.प्रफुल्ल कोलख्यान: बकलम खुद कुमारिल, खुद प्रभाकर - हिंदी के नामवर : वसुधा 54 : अप्रैल-जून 2002

15.देवीशंकर अवस्थी: आलोचना और आलोचना: वाणी प्रकाशन 1995

16.एकांत श्रीवास्तव: जो कुरुक्षेत्र पार करते हैं: बीज से फूल तक : राजकमल प्रकाशन

17.Public Sphere में सक्रिय Public Mind के अर्थ में।

18.मंगलेश डबराल: हम जो देखते हैं: पिता की तस्वीर

19.पंजाबी के कवि अवतार सिंह पाश की कविता का संदर्भ लें।

20.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है?

21.कुमार अंबुज: अतिक्रमण: 2002 : अतिक्रमण

22.नागार्जुन रचनावली-1: राजकमल प्रकाशन, 2003: यह कैसे होगा?:सतरंगे पंखोंवाली: 1956

23.नागार्जुन रचनावली- 6 : दिमागी गुलामी: कौमी बोली, जनवरी 1944
24.नामवर सिंह: साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका 1979 : वाद विवाद संवाद
25.गजानन माधव मुक्तिबोध: मुक्तिबोध रचनावली -4: राजकमल प्रकाशन, संस्करण-1,1989
26.प्रेमचंद: विविध प्रसंग-2 : राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता : संकलन अमृत राय : हंस प्रकाशन
27.मानव विकास रिपोर्ट - 2002
28.मानव विकास रिपोर्ट: 1996
29.प्रो. अमर्त्य सेन: आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य, राज प्रकाशन 2001
30.फ़ैज़ अहमद फ़ैज़: सारे सुख़न हमारे: राजकमल प्रकाशन- दिसंबर, 1987 : नक़्शे-फ़रियादी
31.रघुवीर सहाय: लोग भूल गये हैं: निवेदन (14 जनवरी 1982): राजकमल प्रकाशन, 1982
32.भीष्म साहनी: दो शब्द: मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983
33.केदारनाथ अग्रवाल: अनहारी हरियाली: परिमल प्रकाशन - प्रसं. 1990
34.नागार्जुन रचनावली- 6: प्रेमचंद: एक व्यक्तित्व: हिंदी टाइम्स, 6 अक्तूबर 1962
35.कुछ पूर्वग्रह: आलोचना की जरूरत
36.भीष्म साहनी: मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
37.भीष्म साहनी: मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
38.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है
39.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि- पहला भाग: कविता क्या है
40.नामवर सिंह : कथादेश -
जून 2002: देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान समारोह में दिये गये वक्तव्य से
41.गजानन माधव मुक्तिबोध :
42.भीष्म साहनी : मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994
43. 'Inter-Woven' के अर्थ में
44. 'Inter-Locked' के अर्थ में
45.गजानन माधव मुक्तिबोध: मुक्तिबोध रचनावली -5
46.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है
47.रेने देकार्त्त का विशिष्ट संदर्भ लिया जा सकता है।
48.कुँवर नारयाण: अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया: कविता का जनपद -
सं. अशोक वाजपेयी
49.'Mega Context' के खास अर्थ में

50.कुँवर नारयाण: अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया :कविता का जनपद - सं. अशोक वाजपेयी: 51.अशोक वाजपेयी: कविता का देश: कविता का जनपद - सं. अशोक वाजपेयी

52.नागार्जुन रचनावली - 6 : प्रेमचंद : एक व्यक्तित्व: हिंदी टाइम्स, 6 अक्तूबर 1962

53.कुँवर नारयाण: अमानवीयकरण के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया: कविता का जनपद - सं. अशोक वाजपेयी

54.गजानन माधव मुक्तिबोध: जनता का साहित्य किसे कहते हैं : मुक्तिबोध रचनावली 5

55.गजानन माधव मुक्तिबोध: कलात्मक अनुभव: मुक्तिबोध रचनावली भग 5

56.गजानन माधव मुक्तिबोध: समन्वय के लिए संघर्ष चाहिए: मुक्तिबोध रचनावली

57.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: चिंतामणि - पहला भाग: कविता क्या है

58.भीष्म साहनी: मेरी कथा के निष्कर्ष: दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ : किताब घर 1994

59.गजानन माधव मुक्तिबोध: एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिह्न: मुक्तिबोध रचनावली-4:

60.गजानन माधव मुक्तिबोध : समाज और साहित्य : मुक्तिबोध रचनावली-5

61.अंधविश्वास धर्म का मुख्य तत्त्व है : प्रोफेसर तुलसी राम : समयांतर, मार्च 2003

62.गजानन माधव मुक्तिबोध: जनता का साहित्य किसे कहते हैं: मुक्तिबोध रचनावली-5

63.प्रेमचंद के विख्यात उपन्यास 'गोदान' का एक प्रमुख पात्र

64.दूधनाथ सिंह के उपन्यास 'आख़िरी कलाम' (राजकमल प्रकाशन 2003) का एक प्रमुख पात्र

65.भीष्म साहनी: दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ: राजपाल एंड सन्ज़: 1983

66.आचार्य रामचंद्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास